॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥
१
-पं श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञोपनिषद्

प्रथम खंड

☆

संपादक

ब्रह्मवर्चस

☆

प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा—२८१००३

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

प्राक्कथन

परमपूज्य गुरुदेव पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने 'प्रज्ञापुराण' के रूप में जन-जन को लोक-शिक्षण का एक नया आयाम दिया है। इसमें उनने चिरपुरातन उपनिषद् शैली में आज के युग की समस्याओं का समाधान दिया। यह क्रांतिदर्शी चिंतन उनकी लेखनी से जब निस्सृत हुआ तो इसने पूरे क्षेत्र को उद्वेलित करके रख दिया। वस्तुतः यह पुरुषार्थ हजारों वर्षों बाद सप्तर्षियों की मेधा के समुच्चय को लेकर जन्मे प्रज्ञावतार के प्रतिरूप आचार्यश्री द्वारा जिस तरह किया गया, उसने इस राष्ट्र व विश्व की मनीषा को व्यापक स्तर पर प्रभावित किया।

प्रज्ञा पुराण की रचना परमपूज्य गुरुदेव ने क्यों की? इस तथ्य को समझने के लिए प्रज्ञा पुराण के प्रथम खंड की भूमिका में उनके द्वारा लिखे गए अंश ध्यान देने योग्य हैं—'अपना युग अभूतपूर्व एवं असाधारण रूप से उलझी हुई समस्याओं का युग है। इनका निदान और समाधान भौतिक-क्षेत्र में नहीं, लोक-मानस में बढ़ती जा रही आदर्शों के प्रति अनास्था की परिणति है। काँटा जहाँ चुभा है, वहीं कुरेदना पड़ेगा। भ्रष्ट-चिंतन और दुष्ट आचरण के लिए प्रेरित करने वाली अनास्था को निरस्त करने के लिए ऋतंभरा महाप्रज्ञा के दर्शन एवं प्रयोग ब्रह्मास्त्र ही कारगर हो सकता है।

प्रस्तुत प्रज्ञा पुराण में भूतकाल के उदाहरणों से भविष्य के सृजन की संभावना के सुसंपन्न हो सकने की बात गले उतारने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि परिवर्तन प्रकरण को संपन्न करने के लिए वर्तमान में किस रीति-नीति को अपनाने की आवश्यकता पड़ेगी और किस प्रकार जाग्रतात्माओं को अग्रिम पंक्ति में खड़े होकर अपना अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना होगा।

उन्होंने इसे उपनिषद् शैली में ऋषियों के संवाद रूप में प्रकट किया। जनसामान्य के लिए पुराणों वाली कथा-शैली अधिक रुचिकर एवं ग्राह्य होती है, इसलिए उन्होंने उपनिषद् सूत्रों के साथ प्रेरक कथानक एवं संस्मरण जोड़कर उसे पुराण रूप दिया। इस रूप में चार खंड प्रकाशित हुए, यह इतने लोकप्रिय हुए कि सन् १९७९ से अब तक बीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

स्वाध्यायशीलों के लिए उन्होंने इसे प्रज्ञोपनिषद् के रूप में प्रकाशित करने का भी निर्देश दिया था। आचार्यश्री के वाङ्मय की इकाई के रूप में इसके छह खंडों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया गया। उसकी लोकप्रियता एवं उपयोगिता को देखते हुए स्वाध्याय-प्रेमियों की सुविधा की दृष्टि से प्रज्ञोपनिषद् के छहों खंडों को अलग-अलग केवल श्लोक एवं टीका के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका नियमित स्वाध्याय करने की प्रेरणा देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने प्रारंभिक निर्देशों में लिखा—

"दैनिक स्वाध्याय में इसका प्रयोग करना हो तो गीता पाठ, रामायण पाठ, गुरुग्रंथ साहब स्तर पर ही इसे पवित्र स्थान एवं श्रद्धाभरे वातावरण में धूप, दीप, अक्षत, पुष्प जैसे पूजा-प्रतीकों के साथ इसका वाचन करना-कराना चाहिए। जो पढ़ा जाए, समझ-समझकर धीरे-धीरे ही। प्रतिपादनों को अपने जीवनक्रम में सम्मिलित कर सकना, किस प्रकार, किस सीमा तक संभव हो सकता है, यह विचार करते हुए रुककर पढ़ा जाए।"

छहों खंडों की विषयवस्तु इस प्रकार है—प्रथम खंड में आज के युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था-संकट का विवरण है। द्वितीय खंड धर्म के आधारभूत शाश्वत गुणों पर, तृतीय खंड परिवार-संस्था, गृहस्थ जीवन, नारीशक्ति के विभिन्न पक्षों पर, चतुर्थ खंड देव संस्कृति के आज लुप्त हो रहे उन पक्षों पर केंद्रित है, जिन पर भारतीय धर्म टिका है। पाँचवाँ खंड सर्वधर्म सद्भाव को समर्पित है, जो विश्व धर्म का भविष्य में आधार बनेगा। अंतिम छठा खंड वैज्ञानिक अध्यात्मवाद की धुरी पर लिखा गया है। आर्य संस्कृति के यज्ञ विज्ञान, परोक्ष जगत आदि पक्ष वैज्ञानिक धर्म की पृष्ठभूमि में समझाए गए हैं।

उक्त छह प्रकरणों को पृथक-पृथक पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित करने का उद्देश्य यह है कि विज्ञजन इसका पाठ-अध्ययन नियमित रूप से करते रह सकें। इससे युगऋषि द्वारा अवतारित युगांतरकारी सूत्र जन-जन के विचारों एवं आचरण में प्रवेश करके युग परिवर्तन-उज्ज्वल भविष्य का ठोस आधार तैयार कर सकेंगे।

युगऋषि-प्रज्ञापुरुष की जन्म शताब्दी (२०११-२०१२) की तैयारी की वेला में उनका ही रचा यह युगदर्शन उन्हीं के चरणों में समर्पित है।

—**ब्रह्मवर्चस**

भूमिका

प्रथम खंड का शुभारंभ लोक-कल्याण के लिए देवर्षि नारद द्वारा भगवान विष्णु के सामने प्रस्तुत जिज्ञासा से हुआ है। वे इस कलियुग में सर्वसाधारण के लिए जीवनचर्या को साधनामय बनाने का उपाय पूछते हैं। भगवान इसके लिए मनुष्य की मन:स्थिति को बदलने के लिए अवतरित होने वाले प्रज्ञावतार की बात बताते हैं। मनुष्य के कष्टों का कारण आस्था-संकट ही बताते हैं। भगवान नारद को प्रेरित करते हैं कि वे वरिष्ठ आत्माओं को खोजें, उन्हें प्रसुप्ति से जगाएँ। भगवान स्वयं प्रेरणा भरने का कार्य अपने हाथ में लेते हैं। इस संवाद से प्रथम अध्याय आरंभ होता है।

युगसंधि वेला में गायत्री महाशक्ति का प्रकटीकरण कैसे होने जा रहा है, यह प्रसंग भगवान नारद जी को इसी अध्याय में समझाते हैं। साथ ही जाग्रतात्माओं के लिए दिव्य संदेश भी देते हैं। भगवान नारद जी को ऋषि संवाद के रूप में उभरा प्रज्ञा पुराण ध्यानावस्था में हृदयंगम कराते हैं तथा उस ज्ञानगंगा को मेघों की तरह सर्वत्र बरसाने का निर्देश देते हैं।

द्वितीय अध्याय ऋषि पिप्पलाद एवं अष्टावक्र के अध्यात्म दर्शन संबंधी पारस्परिक संवाद पर केंद्रित है। आत्मज्ञान से मनुष्य कैसे ऊँचा उठता है और जीवन देवता की उपेक्षा करने वाले कैसे गिरते हैं, यह तथ्य महर्षि पिप्पलाद सभी उपस्थित ऋषियों को समझाते हैं।

तीसरे अध्याय की मूल धुरी है—ईश्वर के अजस्र अनुदान किन्हें मिलते हैं, किन्हें नहीं मिल पाते?

चौथे अध्याय में संयमशीलता एवं कर्त्तव्यपरायणता द्वारा जीवन को कैसे प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष बनाया जा सकता है, इस पर पारस्परिक

संवाद है। पाँचवाँ अध्याय उत्तम भक्तिभावना पर केंद्रित है। आदर्शों के प्रति प्रेम ही सच्चीभक्ति है, इसे विस्तार से समझाया गया है।

छठा अध्याय समस्त प्रकरण को समग्र बनाने के लिए सत्साहस-संघर्ष पर लिखा गया है। अनीति से संघर्ष व पराक्रम द्वारा दुर्बलों की रक्षा इसका मूल प्रतिपाद्य विषय है।

कुल मिलाकर सातों अध्याय 'सतयुग की वापसी' के मूलसूत्र हमें प्रदान करते हैं। निश्चित रूप से इनका स्वाध्याय संस्कृत भाषा में श्लोक व उनका सरल अर्थ, प्रश्नोत्तर शैली में हमारी सभी शंकाओं का समाधान कर सकेगा।

— ब्रह्मवर्चस

प्रज्ञोपनिषद्

प्रथम मंडल

विषय-सूची	पृष्ठ सं०

॥ गुरु-ईश-वंदना ॥

गुरु-ईश-वंदना के इन श्लोकों से भावपूर्ण वंदना करके 'प्रज्ञोपनिषद्' का पारायण प्रारंभ किया जा सकता है।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप! ॥

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तः स्थमीश्वरम्॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्चभूयोऽपि नमो नमस्ते॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

नमस्ते नमस्ते विभो! विश्वमूर्ते! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते!।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य! नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य!॥

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः॥

ॐ वन्दे भगवतीं देवी, श्रीरामञ्च जगद्गुरुम्।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा, प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्री रूपिणे सदा।
यस्य वागमृतं हन्ति, विषं संसार संज्ञकम्॥

ॐ प्रखर प्रज्ञाय विद्महे, महाकालाय धीमहि, तन्नः श्रीरामः प्रचोदयात्॥ ॐ सजल श्रद्धायै विद्महे, महाशक्त्यै धीमहि, तन्नो भगवती प्रचोदयात्॥

॥ प्रज्ञोपनिषद् ॥

॥ प्रथम मंडल ॥

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

लोक-कल्याण जिज्ञासा प्रकरण

लोककल्याणकृद् धर्मधारणासंप्रसारकः।
व्रती यायावरो मान्यो देवर्षिर्ऋषिसत्तमः॥ १॥
अव्याहतगतिं प्राप गन्तुं विष्णुपदं सदा।
नारदो ज्ञानचर्चार्थं स्थित्वा वैकुंठसन्निधौ ॥ २॥
लोककल्याणमेवायमात्मकल्याणवद् यतः।
मेने परार्थपारीणः सुविधामन्यदुर्लभाम् ॥ ३॥
काले काले गतस्तत्र समस्याः कालिकीर्मृशन्।
मतं निश्चित्य स्वीचक्रे भाविनीं कार्यपद्धतिम्॥ ४॥

टीका—लोक-कल्याण के लिए जन-जन तक धर्मधारणा का प्रसार-विस्तार करने का व्रत लेकर निरंतर विचरण करने वाले नारद ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ गिने गए और देवर्षि के मूर्द्धन्य सम्मान से विभूषित हुए। एकमात्र उन्हीं को यह सुविधा प्राप्त थी कि कभी भी बिना किसी रोक-टोक विष्णुलोक पहुँचें और भगवान के निकट बैठकर अभीष्ट समय तक प्रत्यक्ष ज्ञान की चर्चा करें। यह विशेष सुविधा उन्हें लोक-कल्याण को ही आत्मकल्याण मानने की परमार्थपरायणता के कारण मिली। वे समय-समय पर भगवान के समीप पहुँचते और सामयिक समस्याओं पर विचार करके तदनुरूप अपना मत बनाते और भावी कार्यक्रम निर्धारित करते॥ १-४॥

एकदा हृदये तस्य जिज्ञासा समुपस्थिता।
ब्रह्मविद्यावगाहार्थ कालं उच्चैस्तु प्राप्यते ॥५॥
सञ्चितैश्च सुसंस्कारैः कठोरं व्रतसाधनम्।
योगाभ्यासं तपश्चापि कुर्वन्त्येते यथासुखम् ॥६॥
सामान्यानां जनानां तु मनसः सा स्थितिः सदा।
चंचलास्ति न ते कर्तुं समर्था अधिकं क्वचित् ॥७॥
अल्पेऽपि चात्मकल्याणसाधनं सरलं न ते।
वर्त्म पश्यंति पृच्छामि भगवंतमस्तु तत्स्वयम् ॥८॥
सुलभं सर्वमर्त्यानां ब्रह्मज्ञानं भवेद् यथा।
आत्मविज्ञानमेवापि योग-साधनमप्युत ॥९॥
नातिरिक्तं जीवचर्यां दृष्टिकोणं नियम्य वा।
सिद्ध्येत् प्रयोजनं लक्ष्यपूरकं जीवनस्य यत् ॥१०॥

टीका—एक बार उनके मन में जिज्ञासा उठी। उच्चस्तर के लोग तो ब्रह्मविद्या के गहन-अवगाहन के लिए समय निकाल लेते हैं। संचित सुसंस्कारिता के कारण कठोर व्रत-साधन, योगाभ्यास एवं तप-साधन भी कर लेते हैं, किंतु सामान्य जनों की मनःस्थिति-परिस्थिति उथली होती है। ऐसी दशा में वे अधिक कर नहीं पाते। थोड़े में सरलता पूर्वक आत्मकल्याण का साधन बन सके, ऐसा मार्गदर्शन उन्हें प्राप्त नहीं होता। अस्तु, भगवान से पूछना चाहिए। सर्वसाधारण की सुविधा का ऐसा ब्रह्मज्ञान, आत्म विज्ञान एवं योगसाधन क्या हो सकता है। जिसके लिए कुछ अतिरिक्त न करना पड़े, मात्र दृष्टिकोण एवं जीवनचर्या में थोड़ा परिवर्तन करके ही जीवनलक्ष्य को पूरा करने का प्रयोजन सध जाए॥ ५-१०॥

पिपृच्छां च समाधातुं बैकुंठ नारदो गतः।
गत्वा सम्पूज्य देवेशं देवेनापि तु पूजितः॥ ११॥
कुशलक्षेमचर्चांतेऽभीष्टे चर्चाऽभवद्द्वयोः।
संसारस्य च कल्याणकामना संयुता च या॥ १२॥

टीका—इस पूछताछ के लिए देवर्षि नारद बैकुंठ लोक पहुँचे, नारद ने नमन-वंदन किया, भगवान ने भी उन्हें सम्मानित किया। परस्पर कुशल-क्षेम के उपरांत अभीष्ट प्रयोजनों पर चर्चा प्रारंभ हुई, जो संसार की कल्याण-कामना से युक्त थी॥ ११-१२॥

नारद उवाच—

देवर्षिः परमप्रीतः पप्रच्छ विनयान्वितः।
नेतुं जीवनचर्यां वै साधनामयतां प्रभो॥ १३॥
प्राप्तुं च परमं लक्ष्यमुपायं सरलं वद।
समाविष्टो भवेद्यस्तु सामान्ये जनजीवने॥ १४॥
विहाय स्वगृहं नैव गन्तुं विवशता भवेत्।
असामान्या जनार्हा च तितिक्षा यत्र नो तपः॥ १५॥

टीका—प्रसन्नचित्त देवर्षि ने विनयपूर्वक पूछा—देव! संसार में जीवनचर्या को ही साधनामय बना लेने और परमलक्ष्य प्राप्तकर सकने का सरल उपाय बताएँ, ऐसा सरल जिसे सामान्य जनजीवन में समाविष्ट करना कठिन न हो। घर छोड़कर कहीं न जाना पड़े और ऐसी तप-तितिक्षा न करनी पड़े जिसे सामान्य स्तर के लोग न कर सकें॥ १३-१५॥

जिज्ञासां नारदस्याथ ज्ञात्वा सम्मुमुदे हरिः।
उवाच च महर्षे त्वमात्थ यन्मे मनीषितम्॥ १६॥

युगानुरूपं सामर्थ्यं पश्यन्नत्र प्रसंगके।
निर्धारणस्य चर्चाया व्यापकत्वं समीप्सितम्॥ १७॥

टीका—नारद की जिज्ञासा जानकर भगवान बहुत प्रसन्न हुए और बोले—देवर्षि आप तो हमारे मन की बात कह रहे हैं। समय की आवश्यकता को देखते हुए इस प्रसंग पर चर्चा होना और निर्धारण को व्यापक किया जाना आवश्यक भी था॥ १६-१७॥

अधुनास्ति हि सर्वत्राऽनास्था क्रमपरंपरा।
अदूरदर्शिताग्रस्ता जना विस्मृत्य गौरवम् ॥१८॥
अचिंत्यचिंतना जाता अयोग्याचरणास्तथा।
फलतः रोग शोकार्तिकलहक्लेशनाशजम्॥ १९॥
वातावरणमुत्पन्नं भीषणाश्च विभीषिकाः।
अस्तित्त्वंच धरित्र्यास्तु संदिग्धं कुर्वतेऽनिशम्॥ २०॥

टीका—इन दिनों सर्वत्र अनास्था का दौर है। अदूरदर्शिता ग्रस्त हो जाने से लोग मानवी गरिमा को भूल गए हैं। अचिंत्य, चिंतन और अनुपयुक्त आचरण में संलग्न हो रहे हैं, फलतः रोग, शोक और कलह, भय, विनाश का वातावरण बन रहा है। भीषण विभीषिकाएँ निरंतर धरती के अस्तित्व तक को चुनौती दे रही हैं॥ १८-२०॥

ईदृश्यां च दशायां तु स्वप्रतिज्ञानुसारतः।
जाता नवावतारस्य व्यवस्थायाः स्थितिः स्वयम्॥ २१॥
प्रज्ञावतारनाम्ना च युगस्यास्यावतारकः।
भूलोके मानवानां तु सर्वेषां हि मनःस्थितौ॥ २२॥
परिस्थितौ च विपुलं चेष्टते परिवर्तनम्।
सृष्टिक्रमे चतुर्विंश एष निर्धार्यतां क्रमः॥ २३॥

टीका—ऐसी दशा में अपनी प्रतिज्ञानुसार नए अवतार की व्यवस्था बन गई। प्रज्ञावतार नाम से इस युग का अवतरण भूलोक के मनुष्य समुदाय की मनःस्थिति एवं परिस्थिति में भारी परिवर्तन करने जा रहा है। सृष्टिक्रम में इस प्रकार का यह चौबीसवाँ निर्धारण है॥ २१-२३ ॥

वरिष्ठता नराणां च श्रद्धाप्रज्ञाऽवलंबिता।
निष्ठाश्रिता च व्यक्तित्वं सर्वेषामत्र संस्थितम्॥ २४॥
न्यूनाधिकत्वहेतोर्हि क्षीयते वर्धते च तत्।
उत्थानसुखजं पातदुःखजं जायते वृतिः ॥ २५॥
अधुना मानवैस्त्यक्ता श्रेष्ठताऽऽभ्यंतरस्थिता ।
फलत आत्मनेऽन्येभ्यः संकटान् भावयंति ते॥ २६ ॥

टीका—मनुष्य की वरिष्ठता श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा पर अवलंबित है। इन्हीं की न्यूनाधिकता से उसका व्यक्तित्व उठता-गिरता है। इसी (व्यक्तित्व) के उठने-गिरने के कारण उत्थानजन्य सुखों और पतनजन्य दुःखों का वातावरण बनता है। इन दिनों मनुष्यों ने आंतरिक वरिष्ठता गँवा दी है। फलतः अपने तथा सबके लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं॥ २४-२६ ॥

यदा मनुष्यो नात्मानमात्मनोद्धर्तुमर्हति।
कृतावतारोऽलं तस्य स्थितिं संशोधयाम्यहम्॥ २७॥
क्रमेऽस्मिन्सुविधायुक्ताः साधनैः सहिता नराः।
विभीषिकायां नाशस्याऽनास्थासंकटपाशिताः॥ २८॥
तन्निवारणहेतोश्च कालेऽस्मिंश्चलदलोपमे।
प्रज्ञावताररूपेऽवतराम्यत्र तु पूर्ववत्॥ २९॥

त्रयोविंशतिवारं यद्भ्रष्टं संतुलनं भुवि।
संस्थापितं मयैवैतद् भ्रष्टं संतुलयाम्यहम्॥ ३०॥

टीका—जब मनुष्य अपने बलबूते दलदल से उबर नहीं पाते तो मुझे अवतार लेकर परिस्थितियाँ सुधारनी पड़ती हैं। इस बार सुविधा-साधन रहते हुए भी मनुष्यों को जिस विनाश विभीषिका में फँसना पड़ रहा है, उसका मूल कारण आस्था-संकट ही है। उसके निवारण हेतु मुझे इस अस्थिर समय में इस बार प्रज्ञावतार के रूप में अवतरित होना है। पिछले तेईस बार की तरह इस बार भी बिगड़े संतुलन को फिर सँभालना है॥ २७-३०॥

निराकारत्वहेतोश्च प्रेरणां कर्तुमीश्वरः।
शरीरिणश्च गृह्णामि गतिसंचालने ततः॥ ३१॥
अपेक्ष्यंते वरिष्ठाश्च आत्मनः कार्यसिद्धये।
अग्रदूतानिमान् कर्तुं पुष्णाम्यन्विष्य सर्वथा॥ ३२॥
ततो निजप्रभावेण वर्चस्वेन च ते समम्।
समुदायं दिशां नेतुं भिन्नां कुर्युर्वृतिं पराम्॥ ३३॥

टीका—निराकार होने के कारण मैं प्रेरणा ही भर सकता हूँ। गतिविधियों के लिए शरीरधारियों का आश्रय लेना पड़ता है, इसके लिए वरिष्ठ आत्माएँ चाहिए। इन दिनों अग्रदूत बनाने के लिए उन्हीं को खोजना, उभारना और सामर्थ्यवान बनाना है। जिससे कि अपने प्रभाव-वर्चस्व से वे समूचे समुदाय की दिशा बदल सकें। समूचे वातावरण में परिवर्तन प्रस्तुत कर सकें॥ ३१-३३॥

संयुक्तश्च प्रयासोऽयं कर्त्तव्यो नारद शृणु।
प्रेरयामि तु संपर्कं कुरु साधय पोषय॥ ३४॥
वरिष्ठात्मान एवं च त्यक्त्वा सर्वाः प्रसुप्तिकाः।
युगमानवकार्यं च साधयिष्यंति पोषिताः॥ ३५॥

अनेनागमनं ते तु ममामंत्रणमेव च ।
द्वयोः पक्षगतं सिद्धं प्रयोजनमिदं ततः ॥ ३६ ॥

टीका—हे नारद ! इसके लिए हम लोग संयुक्त प्रयास करें। हम प्रेरणा भरें, आप संपर्क साधें और उभारें। इस प्रकार वरिष्ठ आत्माओं की प्रसुप्ति जागेगी और वे युग मानवों की भूमिका निभा सकने में समर्थ हो सकेंगे। इससे आपके आगमन और हमारे आमंत्रण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा होगा॥ ३४-३६ ॥

सोत्सुकं नारदोऽपृच्छद् देवात्र किमपेक्ष्यते।
कथं ज्ञेया वरिष्ठास्ते किं शिक्ष्याःकारयामि किम्॥ ३७॥
येन युगसंधिकाले ते मूर्द्धन्या यांतु धन्यताम्।
समयश्चापि धन्यः स्यात्तात् तत्सृज युगविधिम्॥ ३८॥
पूर्वसंचितसंस्काराः श्रुत्वा युगनिमंत्रणम्।
मौनाः स्थातुं न शक्ष्यंति चौत्सुक्यात् संगतास्ततः॥ ३९॥

टीका—तब नारद ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—हे देव ! इसके लिए क्या करने की आवश्यकता है? वरिष्ठों को कैसे ढूँढ़ा जाए? उन्हें क्या सिखाया जाए और क्या कराया जाए? जिससे युगसंधि की वेला में अपनी भूमिका से मूर्द्धन्य आत्माएँ स्वयं धन्य बन सकें और समय को धन्य बना सकें। भगवान बोले—तात! युगसृजन का अभियान आरंभ करना चाहिए; जिनमें पूर्वसंचित संस्कार होंगे, वे युगनिमंत्रण सुनकर मौन बैठे न रह सकेंगे, उत्सुकता प्रकट करेंगे, समीप आएँगे और परस्पर संबद्ध होंगे॥ ३७-३९॥

सत्पात्रतां गतास्ते च तत्त्वज्ञानेन बोधिताः।
कार्याः संक्षिप्तसारेण यदमृतमिति स्मृतम्॥ ४०॥

तुलना कल्पवृक्षेण मणिना पारदेन च।
यस्य जाता सदा तत्त्वज्ञानं तत्ते वदाम्यहम्॥ ४१॥
तत्त्वचिंतनतः प्रज्ञा जागर्त्यात्मविनिर्मितौ।
प्राज्ञः प्रसज्जते चात्मविनिर्माणे च संभवे॥ ४२॥
तस्यातिसरला विश्वनिर्माणस्यास्ति भूमिका।
कठिना दृश्यमानापि ज्ञानं कर्म भवेत्ततः॥ ४३॥
प्रयोजनानि सिद्ध्यंति कर्मणा नात्र संशयः।
सद्ज्ञान देव्यास्तस्यास्तु महाप्रज्ञेति या स्मृता॥ ४४॥
आराधनोपासना संसाधनाया उपक्रमः।
व्यापकस्तु प्रकर्त्तव्यो विश्वव्यापी यथा भवेत्॥ ४५॥

टीका—ऐसे लोगों को सत्पात्र माना जाए और उन्हें उस तत्त्वज्ञान को सार संक्षेप में हृदयगंम कराया जाए, जिसे अमृत कहा गया है। जिसकी तुलना सदा पारसमणि और कल्पवृक्ष से होती रही है, वही तत्त्वज्ञान तुम्हें बताता हूँ। तत्त्वचिंतन से प्रज्ञा जगती है। प्रज्ञावान आत्मनिर्माण में जुटता है। जिसके लिए आत्मनिर्माण कर पाना संभव हो सका है, उसके लिए विश्व- निर्माण की भूमिका निभा सकना अतिसरल है, भले ही वह बाहर से कठिन दीखती हो। ज्ञान ही कर्म बनता है। कर्म से प्रयोजन पूरे होते हैं, इसमें संदेह नहीं। उस सद्ज्ञान की देवी 'महाप्रज्ञा' है। जिनकी इन दिनों उपासना- साधना और आराधना का व्यापक उपक्रम बनना चाहिए॥ ४०-४५॥

प्राह नारद इच्छायाः स्वकीयाया भवान् मम।
जिज्ञासायाश्च प्रस्तौति यं समन्वयमद्भुतम्॥ ४६॥
आत्मा पुलकितस्तेन स्पष्टं निर्दिश भूतले।
प्रतिगत्य च किं कार्यं येन सिद्ध्येत् प्रयोजनम्॥ ४७॥

टीका—नारद ने कहा—हे देव ! अपनी इच्छा और मेरी जिज्ञासा का आप जो अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे मेरी अंतरात्मा पुलकित हो रही है। कृपया स्पष्ट निर्देश कीजिए कि पुनः मृत्युलोक में वापस जाकर मुझे क्या करना चाहिए, ताकि आपका प्रयोजन पूर्ण हो ॥ ४६-४७ ॥

उवाच भगवांस्तात ! दिग्भ्रांतान् दर्शयाग्रतः ।
यथार्थताया आलोकं सन्मार्गे गंतुमेव च ॥ ४८ ॥
तर्कतथ्ययुतं मार्गं त्वं प्रदर्शय साम्प्रतम् ।
उपायं च द्वितीयं तं तदाधारसमुद्‌भवम् ॥ ४९ ॥
उत्साहं सरले कार्ये योजयाभ्यस्ततां यतः ।
परिचितिं युगधर्मे च गच्छेयुर्मानवाः समे ॥ ५० ॥
चरणौ द्वाविमौ पूर्णावाधारं प्रगतेर्मम ।
अवतारक्रियाकर्त्ता चेतना सा युगांतरा ॥ ५१ ॥

टीका—भगवान बोले—हे तात ! सर्वप्रथम दिग्भ्रांतों को यथार्थता का आलोक दिखाना और सन्मार्ग अपनाने के लिए तर्क और तथ्यों सहित मार्गदर्शन करना है, दूसरा उपाय इस आधार पर उभरे हुए उत्साह को किसी सरल कार्यक्रम में जुटा देना है, ताकि युगधर्म से वे परिचित और अभ्यस्त हो सकें। इन दो चरणों के उठ जाने पर आगे की प्रगति का आधार मेरी अवतरण प्रक्रिया, युगांतरीय चेतना स्वयमेव संपन्न कर लेगी ॥ ४८-५१ ॥

नारद उवाच—

पप्रच्छ नारदो भगवन् स्पष्टतो विस्तरादपि ।
किं नु कार्यं मया ब्रूहि मानवैः कारयामि किम् ॥ ५२ ॥

श्रीभगवानुवाच—

उवाच भगवाँस्तात ! हिमाच्छादित एकदा।
उत्तराखंड संशोभिन्यारण्यक शुभस्थले॥ ५३ ॥
तत्त्वावधाने प्राज्ञस्य पिप्पलादस्य नारद।
प्रज्ञासत्रसमारंभो जातः पञ्चदिनात्मकः ॥ ५४ ॥
अष्टावक्रः श्वेतकेतुरुद्दालकश्रृंगिणौ ।
दुर्वासाश्चेति जिज्ञासाः पञ्चाकुर्वन् क्रमादिमे॥ ५५ ॥
तत्त्वदर्शी महाप्राज्ञस्तेषां संमुख एव सः।
संक्षिप्तं ब्रह्मविद्यायाः प्रास्तौत्सारं सममृषिः॥ ५६ ॥
सर्वसाधारणोऽप्येनं ज्ञातुं बोधयितुं क्षमः।
इह लोके परे चायमृद्धिसिद्धिप्रदः स्मृतः॥ ५७ ॥
तं प्रसंगं स्मारयामि ध्यानेन हृदये कुरु।
प्रज्ञापुराणरूपे च योजितं यत्नतस्तु तम् ॥ ५८ ॥
वरिष्ठानामात्मानं तु पूर्वं साधारणस्य च।
हृदयंगममेनं, त्वं कारयाद्य महामुने ॥ ५९ ॥

टीका—नारद ने पूछा—"भगवन् ! और भी स्पष्ट करें कि क्या करना और क्या कराना है?" भगवान बाले—"हे तात ! एक बार उत्तराखंड के हिमाच्छादित एक शुभ आरण्यक में महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्त्वावधान में पाँच दिवसीय 'प्रज्ञासत्र' हुआ था। उसमें क्रमशः अष्टावक्र, श्वेतकेतु, शृंगी, उद्दालक और दुर्वासा ने पाँच जिज्ञासाएँ की थीं। तत्त्वदर्शी महाप्राज्ञ ऋषि ने उनके समक्ष ब्रह्मविद्या का सार संक्षेप प्रस्तुत किया था, वह सर्वसाधारण के समझने-समझाने योग्य है, साथ ही लोक-परलोक में उभयपक्षीय ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रदान करने वाला भी है। उस प्रसंग का तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ। ध्यानमग्न

होकर हृदयंगम करो, सुनियोजित करो और 'प्रज्ञापुराण' के रूप में सर्वप्रथम वरिष्ठ आत्माओं को तदुपरांत सर्वसाधारण को हृदयंगम कराओ।" ॥५२-५९॥

समाधिस्थो नारदोऽभूत्तस्मिन्नेव क्षणे प्रभुः।
प्रज्ञापुराणमेतत्तद्हृदयस्थमकारयत् ॥६०॥
उवाच च महामेघमंडलीव समंततः।
कुरु त्वं मूसलाधारं वर्षां तां युगचेतनाम् ॥६१॥
अनास्थाऽऽतपशुष्कां च महर्षे धर्मधारणाम्।
जीवयैतदिदं कार्यं प्रथमं ते व्यवस्थितम् ॥६२॥

टीका—नारद समाधिस्थ हो गए। भगवान ने उस समय प्रज्ञापुराण कंठस्थ करा दिया और कहा—"इसे युगचेतना की वर्षा-मेघों की तरह सर्वत्र बरसाओ।" अनास्था के आतप से सूखी धर्मधारणा को फिर से हरी-भरी बना दो। तुम्हारा प्रथम काम यही है ॥६०-६२॥

उवाच नारदो देव ! वाच्यः श्राव्यस्त्वयं मतः।
ज्ञानपक्षः पूरकं तं कर्मपक्षं विबोधय ॥६३॥
कर्त्तव्यं यद्यदन्यैश्चाप्यनुष्ठेयं, समग्रता।
उत्पद्यते द्वयोर्ज्ञानकर्मणोस्तु समन्वयात् ॥६४॥

टीका—नारद बोले—"यह ज्ञानपक्ष हुआ। जिसे कहा या सुना जाता है। अब इसका पूरक कर्मपक्ष बताइए, जो करना और कराना पड़ेगा।" ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही समग्रता उत्पन्न होती है ॥६३-६४॥

उवाच विष्णुर्ज्ञानार्थं कथा प्रज्ञापुराणजा।
विवेच्या, कर्मणे प्रज्ञाभियानस्य विधिष्वलम् ॥६५॥
विधयोऽस्य च स्वीकर्तुं प्रगल्भान् प्रेरयानिशम्।
युगस्य सृजने सर्वे सहयोगं ददत्वलम् ॥६६॥

यथातथा विबोध्यास्ते भावुका अंशदायिनः।
समयस्य च दातारः सोत्साहा उत्स्फुरंतु यत्॥ ६७॥
संयुक्तशक्त्या श्रेष्ठानां दुर्गावतरणोज्ज्वला।
प्रचंडता समुत्पन्ना समस्या दूरयिष्यति॥ ६८॥

टीका—विष्णु भगवान ने कहा—ज्ञान के लिए प्रज्ञापुराण का कथा विवेचन उचित होगा और कर्म के लिए प्रज्ञा अभियान की बहुमुखी गतिविधियों में से प्रगल्भों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा निरंतर देनी चाहिए। युगसृजन में सहयोग करने के लिए सभी भावनाशीलों को समयदान, अंशदान की उमंग उभारनी चाहिए। वरिष्ठों की इस संयुक्त शक्ति से ही दुर्गावतरण जैसी प्रचंडता उत्पन्न होगी और युग समस्याओं के निराकरण में समर्थ होगी॥ ६५-६८॥

धर्मस्य चेतनां भूयो जीवितां कर्तुमद्य तु।
अधिष्ठात्रीं युगस्यास्य महाप्रज्ञामृतंभराम्॥ ६९॥
गायत्रीं लोकचित्ते तां कुरु पूर्णप्रतिष्ठिताम्।
पराक्रमं च प्रखरं कर्तुं सर्वत्र नारद॥ ७०॥
पवित्रतोदारतां तु यज्ञजां च प्रचंडताम्।
प्रखरां कर्तुमेवाद्यानिवार्यं मन्यतां त्वया॥ ७१॥

टीका—आज धर्मचेतना को पुनर्जीवित करने के लिए इस युग की अधिष्ठात्री महाप्रज्ञा ऋतंभरा गायत्री को लोक-मानस में प्रतिष्ठित किया जाए—"हे नारद ! पराक्रम की प्रखरता के लिए सर्वत्र यज्ञीय पवित्रता, उदारता एवं प्रचंडता को प्रखर करने की आवश्यकता है।"॥ ६९-७१॥

प्रज्ञापीठस्वरूपेषु युगदेवालया भुवि।
भवंतु तत एतासां सृज्यानामथ नारद॥ ७२॥

सूत्रं संस्कारयोग्यानां प्रवृत्तीनां च सञ्चलेत्।
नृणां येन स्वरूपं च भविष्यत्संस्कृतं भवेत्॥ ७३॥
सहैव पृष्ठभूमिश्च परिवर्तनहेतवे।
निर्मिता स्याद् युगस्यास्तु संधिकालस्तु विंशतिः॥ ७४॥
वर्षाणां, सुप्रभातस्य वेलाऽऽवर्तन हेतुका।
अवाञ्छनीयताग्लानिः सदाशयविनिर्मितिः॥ ७५॥

टीका—हे नारद ! युग देवालय, प्रज्ञापीठों के रूप में बनें। वहाँ से सृजनात्मक और सुधारात्मक सभी प्रवृत्तियों का सूत्र-संचालन हो, जिससे मनुष्य का स्वरूप एवं भविष्य सुधरे, साथ ही महान परिवर्तन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि भी बनने लगे। युगसंधि के बीस वर्ष प्रभात की परिवर्तन वेला की तरह हैं। इसमें अवांछनीयता की गलाई और सदाशयता की ढलाई होगी॥ ७२-७५॥

विभीषिकास्तु विश्वस्य दूरीकर्तुं पुनर्भुवि।
स्वर्ग्यवातावृतिं कर्तुं क्षमानां देवतात्मनाम्॥ ७६॥
मानावानां तु संभूतिः कठिना किंतु तत्र ये।
योगदानरतास्तेषां श्रेयः सौभाग्यसंभवः॥ ७७॥

टीका—विश्व विभीषिकाओं को निरस्त करने और धरती पर पुनः स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न कर सकने वाले देवमानवों का सृजन करने का कार्य कठिन तो है, पर उसमें योगदान देने वालों का श्रेय-सौभाग्य भी कम न मिलेगा॥ ७६-७७॥

जागृतात्मवतामेतं संदेशं प्रापयास्तु मे।
नोपेक्ष्योऽनुपमः कालः क्रियतां साहसं महत्॥ ७८॥
महन्तं प्रतिफलं लब्ध्वा कृतकृत्या भवंतु ते।
जन्मन इदमेवास्ति फलमुद्देश्य रूपकम्॥ ७९॥

अग्रगामिन एवात्र प्रज्ञासंस्थान निर्मितौ।
प्रज्ञाभियानसूत्राणां योग्याः संचालने सदा॥ ८०॥

टीका—अस्तु, जाग्रत आत्माओं तक मेरा यह संदेश पहुँचाना कि वे इस अनुपम अवसर की उपेक्षा न करें, बड़ा साहस करें, बड़ा प्रतिफल अर्जित करके कृतकृत्य बनें। यही उनके जन्म का उद्‌देश्य है, जो अग्रगामी हों उन्हें प्रज्ञा-संस्थानों के निर्माण तथा प्रज्ञा अभियान के सूत्र-संचालन में जुटाना॥ ७८-८०॥

साहसादर्शरूपा ये चेतनामुच्चभूमिकाम्।
निजेन बलिदानेन त्यागेनोद्‌भावयंति ये॥ ८१॥
आत्मसंतोषमासाद्य लोकसम्मानमेव च।
देवानुग्रहलाभं च कृतकृत्या भवंति ते॥ ८२॥

टीका—आदर्श और साहस के धनी अपने त्याग-बलिदान से उच्चस्तरीय चेतना उत्पन्न करते हैं और आत्मसंतोष, लोक- सम्मान तथा दैवी अनुग्रह के तीन लाभ एक साथ प्राप्त करते तथा धन्य बनते हैं॥ ८१-८२॥

भगवन्तं ततो नत्वा वांछा साम्यं विचार्य च।
प्रज्ञापुराणसंदेशमुपदेष्टुं जनं जनम्॥ ८३॥
जागृतात्मनः प्रज्ञाभियान मार्गे नियोजितुम्।
संकल्प्य धरणीमायात् प्रसन्नहृदयस्तदा॥ ८४॥
सप्तर्षीणां तपोभूमौ विरम्याथ गतक्लमः।
युगांतरचिते रूपे विश्वव्यापी बभूव च॥ ८५॥

टीका—नारद ने भगवान को नमन किया और उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाते हुए जन-जन को 'प्रज्ञापुराण' का संदेश सुनाने

जाग्रत आत्माओं को प्रज्ञा अभियान प्रयासों में लगाने का संकल्प लेकर, प्रसन्न हृदय धरती पर उतरे। सप्तऋषियों की तपोभूमि में थोड़ा विराम-विश्राम करके वे युगांतरीय चेतना के रूप में विश्वव्यापी बन गए॥ ८३-८५॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री विष्णु-नारद-संवादे 'लोक-कल्याण जिज्ञासा' इति प्रकरणो नाम

॥ प्रथमोऽध्यायः॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

अध्यात्म दर्शन प्रकरण

एकदा तु हिमाच्छन्ने ह्युत्तराखंडमंडने।
अभयारण्यके ताण्ड्यशमीकोद्दालकास्तथा॥ १॥
ऋषयः ऐतरेयश्च ब्रह्मविद्या विचक्षणाः।
तत्त्वजिज्ञासवो ब्रह्मविद्यायाः संगताः समे॥ २॥
तत्त्वचर्चारतानां तु प्रश्न एक उपस्थितः।
महत्त्वपूर्णः स प्रश्नः सर्वेषां मन आहरत्॥ ३॥
पिप्पलादं पप्रच्छातो महाप्राज्ञमृषीश्वरम्।
अष्टावक्रो ब्रह्मज्ञानी लोककल्याणहेतवे॥ ४॥

टीका—हिमाच्छादित उत्तराखंड के अभयारण्यक में एक बार तांड्य, शमीक, उद्दालक तथा ऐतरेय आदि ऋषि ब्रह्मविद्या के गहन तत्त्व पर विचार करने के उद्देश्य से एकत्रित हुए। तत्त्व दर्शन के अनेकानेक प्रसंगों पर विचार करते-करते एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आया। उसकी महत्ता ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। महाप्राज्ञ ऋषि पिप्पलाद से, लोक-कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र ने पूछा॥ १-४॥

अष्टावक्र उवाच—

ईश्वरः भूपतिः साक्षात् ब्रह्मांडस्य महामुने।
मानवं राजपुत्रं स्वं कर्तुं सर्वगुणान्वितम्॥ ५॥
विभूतीः स्वा अदाद् बीजरूपे सर्वा मुदान्वितः।
सृष्टिसंचालकोऽप्येष श्रेयसा रहितः कथम्॥ ६॥

टीका—ब्रह्मांड के सम्राट ईश्वर ने मनुष्य को सर्वगुण संपन्न उत्तराधिकारी राजकुमार बनाया। अपनी समस्त विभूतियाँ उसे बीजरूप में प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कीं। उसे सृष्टि-संचालन में सहयोगी बन सकने के योग्य बनाया, फिर भी वह उस श्रेय से, गौरव से वंचित क्यों रहता है?॥ ५-६॥

सामर्थ्यन्यूनतायां तु साधनाभाव एव वा।
प्रतिकूलस्थितौ वापि नरस्त्वसफलो भवेत्॥ ७॥
यत्रैतन्नास्ति तत्रापि सृष्टिरत्नं नरः कथम्?
दैन्येन ग्लपितेनाथ जीवतीह घृणास्पदः॥ ८॥

टीका—सामर्थ्य की न्यूनता, साधनों का अभाव, प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर तो सफल न हो सकने की बात समझ में आती है, किंतु जहाँ ऐसा कुछ भी न हो, वहाँ मनुष्य जैसा सृष्टि का मुकुटमणि हेयस्तर का जीवन क्यों जिएँ? और क्यों घृणास्पद बनें? ॥ ७-८॥

सत्ये युगे नराः सर्वे सुसंस्कृतसमुन्नतम्।
देवजीवनपद्धत्या जीवंति स्म, धरामिमाम्॥ ९॥
स्वर्ग्येणैव तु दिव्येन वातावरणकेन ते।
भरितां विदधानाश्च विचरंति, कथं पुनः?॥ १०॥
कारणं किं समुत्पन्नं पातगर्ते यथाऽपतन्।
साम्प्रतिकीं स्थितिं दीनां गताः सर्वे यतो मुने॥ ११॥

दुर्धर्षायां विपत्तौ तु विग्रहे वाप्युपस्थिते।
उत्पद्यते विवशता नैतदस्ति तु सांप्रतम्॥ १२॥
सामान्यं दिनचर्यायाः क्रमश्चलति मानवाः।
शक्तिसाधनसंपन्नाः पातगर्ते पतंति किम्?॥ १३॥

टीका—सतयुग में सभी मनुष्य समुन्नत और सुसंस्कृत स्तर का देव जीवन जीते थे और इस धरती का स्वर्ग जैसे दिव्य वातावरण से भरा-पूरा रखते थे। फिर क्या कारण हुआ जिससे लोग पतन के गर्त में गिरे और आज जैसी दयनीय स्थिति में जा पहुँचे। कोई दुर्घर्ष, विपत्ति, विग्रह आने पर विवशता उत्पन्न हो सकती है, किंतु सामान्यक्रम चलते रहने पर भी शक्ति-साधनों से संपन्न मनुष्य अधःपतन के गर्त में क्यों गिरते जा रहे हैं॥ ९-१३॥

उच्चादर्शाय संसृष्टौ मानवो यदि जीवति।
तिरश्चां प्राणिनां हेयस्तरेण मनसा तथा॥ १४॥
अनात्माचरणं कुर्यात्सृष्टिसंतुलनं तथा।
विकुर्यान् महदाश्चर्यं चिंताया विषयस्तथा॥ १५॥

टीका—उच्च प्रयोजनों के लिए सृजा गया मनुष्य तिर्यक् योनियों में रहने वाले प्राणियों से भी अधिक हेय स्तर की मनःस्थिति रखे, अनात्म आचरण करे और सृष्टि-संतुलन बिगाड़े तो सचमुच ही यह बड़े आश्चर्य और चिंता की बात है॥ १४-१५॥

साश्चर्यस्यासमञ्जस्य कारणं किं भवेदहो।
न सामान्यधियामेतज्ज्ञातव्यं तु प्रतीयते॥ १६॥
हेतुना सरहस्येन भवितव्यमिह ध्रुवम्।
हेतुमेनं तु विज्ञातुमिच्छास्माकं प्रजायते॥ १७॥

महाप्राज्ञो भवाँस्तत्त्ववेत्ता कालत्रयस्य च।
द्रष्टाऽविज्ञातगुह्यानां ज्ञाता ग्रन्थिं विमोचय॥ १८॥
इदं ज्ञातुं वयं सर्वे त्वातुराश्च समुत्सुकाः।
अष्टावक्रस्य जिज्ञासां श्रुत्वा तु ब्रह्मज्ञानिनः॥ १९॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादः गम्भीरं प्रश्नमन्वभूत्।
प्रशशंस च प्रश्नेऽस्मिन्नवदच्च ततः स्वयम्॥ २०॥

टीका—इस आश्चर्य भरे असमंजस का क्या कारण हो सकता है, यह सामान्य बुद्धि की समझ से बाहर की बात है। इसके पीछे कोई रहस्यमय कारण होना चाहिए। इस कारण को जानने की हम सबको बड़ी इच्छा है। आप महाप्राज्ञ हैं, तत्त्ववेत्ता हैं, त्रिकालदर्शी हैं, अविज्ञात रहस्यों को समझने वाले हैं। कृपया इस गुत्थी को सुलझाइए। हम सब यह जानने के लिए आतुरता पूर्वक इच्छुक हैं। ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र जी की जिज्ञासा सुनकर महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने प्रश्न की गंभीरता अनुभव की। प्रश्न उभारने के लिए उन्हें सराहा और कहा॥ १६-२०॥

पिप्पलाद उवाच—

महाभाग ! न ते प्रश्नः केवलं दीपयत्यहो।
अध्यात्मतत्त्वज्ञानस्य सारतथ्यान्युतापि तु ॥ २१॥
लोककल्याणकृच्चापि, श्रोष्यन्त्येनं तु ये जनाः।
सत्यं ज्ञास्यंति यास्यंति श्रेयो मार्गेऽविपत्तया॥ २२॥
भवंतः सर्व एतस्याः समस्यायास्तु कारणम्।
समाधानं च शृण्वंतु सावधानेन चेतसा॥ २३॥

टीका—हे महाभाग! आपका प्रश्न न केवल अध्यात्म- तत्त्वज्ञान के सार तथ्यों पर प्रकाश डालता है, वरन लोक कल्याणकारी भी है।

जो इस शंका समाधान को सुनेंगे, वे सभी सत्य को समझेंगे, विपत्ति से बचेंगे और श्रेय के पथ पर चल सकने में समर्थ होंगे। आप सब लोग इस समस्या का कारण और समाधान ध्यानपूर्वक सुनें ॥ २१-२३ ॥

भगवान्निर्ममेऽनृन्यच्छक्तिसौविध्य संयुतान् ।
सुविधां तत्र स्वातंत्र्याच्चयनस्य च संददौ ॥ २४ ॥
दिशां धारां जीवनं च प्राप्तुं गतिविधिं तथा ।
स्वतंत्रमकरोदन्ये प्राणिनः प्रकृतिं श्रिताः ॥ २५ ॥

टीका—भगवान ने मनुष्य को जहाँ शक्ति और सुविधा से भरपूर बनाया वहाँ उसे एक विशेष सुविधा स्वतंत्र चयन करने की भी दी है। अपनी दिशाधारा, जीवनक्रम और गतिविधि अपनी इच्छानुसार अपनाने की छूट दी। अन्य सभी प्राणी तो प्रकृति का अनुसरण भर पाते हैं ॥ २४-२५ ॥

अस्याः स्वतंत्रतायास्तूपयोगं कः कथं मुने ।
करोति संमुखे सेयं परीक्षा पद्धतिः स्थिता ॥ २६ ॥

टीका—हे मुने ! इस स्वतंत्रता का कौन, किस प्रकार उपयोग करता है, यही परीक्षापद्धति हर मनुष्य के सामने है ॥ २६ ॥

विस्मरंति स्वरूपं ये त्यक्त्वा चोत्तरदायिता ।
पतंति पातगर्ते ते, कर्मणा निश्चितं नराः ॥ २७ ॥

टीका—जो आत्मस्वरूप को भूलते और उत्तरदायित्वों से विमुख होते हैं, वे पतन के गर्त में गिरते हैं ॥ २७ ॥

सदुपयुञ्जते ये तु सौभाग्यं प्रस्तुतं क्रमात् ।
उद्गच्छंति तथा यांति पूर्णतां लक्ष्यगां सदा ॥ २८ ॥

टीका—जो प्रस्तुत सौभाग्य का सदुपयोग करते हैं, वे क्रमशः अधिक ऊँचे उठते और पूर्णता के लक्ष्य तक जा पहुँचते हैं ॥ २८ ॥

प्रत्यक्षं देवता नूनं जीवनं यत्तु दृश्यते।
देवानुग्रहरूपं च ये तदाराधयंति तु ॥ २९ ॥
तेऽधिकाः प्राप्नुवन्त्युच्चा उपलब्धीः शनैः शनै।
दुरुपयुञ्जते ये ते नरा निघ्नंति स्वां गतिम्॥ ३० ॥
आत्महंतार इव च दुर्गतिं प्राप्नुवंति ते।
नहि तान् कश्चिदन्योऽपि समुद्धर्तुं भवेत्प्रभुः॥ ३१ ॥

टीका—जीवन प्रत्यक्ष देवता है, वह ईश्वरीय अनुकंपा का दृश्यमान स्वरूप है। जो उसकी आराधना करते हैं, उपलब्धियों का सदुपयोग करते हैं, उन्हें अधिकाधिक मात्रा में उच्चस्तरीय उपलब्धियाँ धीरे-धीरे मिलती जाती हैं। दुरुपयोग करने वाले अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारते हैं और आत्महत्यारों की तरह दुर्गति का दुःख भोगते हैं, उनका उद्धार कोई नहीं कर सकता है॥ २९-३१ ॥

आत्मज्ञानं नरस्यास्ति गौरवं महदुन्मुखः।
यो दिशां तां प्रति, प्रैति गतिमंतर्मुखीं स तु॥ ३२ ॥
भूतं यश्च भविष्यच्च विचार्य वर्तते पुमान्।
आत्मावलंबी स याति द्रुतं प्रगतिपद्धतिं॥ ३३ ॥
नात्र काठिन्यमाप्नोति ये त्यजंत्यवलंबनम्।
उपेक्षयात्महंतारो दुःखदारिद्र्यभागिनः ॥ ३४ ॥
पदे पदे तिरस्कारं सहंते यंत्रणां भृशम्।
नारक्यः प्राप्नुवन्त्येव न यांति परमां गतिम्॥ ३५ ॥

टीका—आत्मज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा गौरव है। जो उस दिशा में उन्मुख होता, अंतर्मुखी बनता, अपने भूत और भविष्य को ध्यान में रखते हुए वर्तमान का निर्धारण करता है, वह आत्मावलंबी

मनुष्य प्रगति-पथ पर द्रुतगति से बढ़ चलता है। इसमें उसे फिर कोई कठिनाई शेष नहीं रहती। जो इस अवलंबन की उपेक्षा करते हैं, वे आत्महंता लोग दुःख-दारिद्र्य के भागी बनते हैं। पग-पग पर तिरस्कार सहते और नारकीय यंत्रणाएँ भुगतते हैं, साथ ही सद्गति को प्राप्त नहीं कर पाते॥ ३३-३५॥

भौतिकीः सुविधाः प्रादान्मनुष्येभ्यः प्रभुः स्वयम्।
दिव्यानां च विभूतीनां निधिं वपुषि दत्तवान्॥ ३६॥
किंतु कार्यमिदं तस्याधीनं च कृतवान् प्रभुः।
यद् विवेकयुतां बुद्धिं स्वतंत्रां परिदर्शयेत्॥ ३७॥
उपयोगं साधनानां दुरुपयोगमथाश्रयन्।
सहभाक् स्वर्ग्यधाराया नारक्याः वापि संभवेत्॥ ३८॥

टीका—ईश्वर ने मनुष्य को भौतिक सुविधाओं का बाहुल्य प्रदान किया, भीतर दिव्य विभूतियों का भंडार भर दिया, पर इतना काम उसे ही सौंपा कि स्वतंत्र विवेक-बुद्धि का परिचय दे और साधनों का सदुपयोग या दुरुपयोग करके स्वर्ग या नरक की दिशाधारा का सहभागी बने॥ ३६-३८॥

प्रगतिर्मानवानां या दुर्गतिर्वाऽपि दृश्यते।
तस्य संरचना स्वस्य तात ! जानीहि निश्चितम्॥ ३९॥
मानवः स्वस्य भाग्यस्य विधाता स्वयमेव हि।
तथ्यमेतद् विजानंति ये ते तु निजचिंतनम्॥ ४०॥
प्रयासं साधुभावाय योजयंति न ते पुनः।
पतनं पराभवं वापि सहंते न च यंत्रणाम्॥ ४१॥

टीका—हे तात ! मनुष्य की जो भी प्रगति-दुर्गति दृष्टिगोचर होती है, वह उसकी स्वयं की संरचना है, यह निश्चित समझो। 'मनुष्य अपने

भाग्य का विधाता आप है, ' जो इस तथ्य को समझते हैं, वे अपने चिंतन और प्रयास को सदाशयता के लिए नियोजित करते हैं। ऐसे लोगों में से किसी को भी पतन-पराभव की यंत्रणा नहीं सहनी पड़ती ॥ ३९-४१ ॥

वयं यद् ब्रह्मतत्त्वस्य मुने ! कुर्मोऽवगाहनम्।
न विवेच्यो विराट् तत्र परमेतदवेहि यत्॥ ४२॥
मानवानामंतराले सत्ता या विद्यते प्रभोः।
तस्या महन्महत्तां तु कथं ज्ञातुं क्षमा वयम्॥ ४३॥
कथं पश्याम एवं च कथं कुर्मस्तथात्मसात्।
प्रयोजनमिदं सर्वं ब्रह्मविद्यां प्रचक्षते॥ ४४॥

टीका—हे ऋषि श्रेष्ठ ! हम लोग जिस ब्रह्मतत्त्व का अवगाहन करते हैं, उसमें उद्देश्य विराट की विवेचना नहीं, वरन यह है कि मानवी अंतराल में विद्यमान ईश्वरीय सत्ता की महान महत्ता को किस प्रकार समझा जाए एवं उसे कैसे देखा, उभारा व अपनाया जाए। इस संपूर्ण प्रयोजन को ही ब्रह्मविद्या कहते हैं ॥ ४२-४४ ॥

सुविधा संपदा पूर्णं जगदेतत्तु भौतिकम्।
संपद्भिरात्मिकं तृप्तितुष्टिशांतिभिराप्लुतम्॥ ४५॥
सुविधाः साधनेष्वेव रमंते मंदबुद्धयः।
यथा क्रीडनकैर्बालास्तथा ते संति निश्चितम्॥ ४६॥
आध्यात्मिकस्य जगतः स्वर्ग्यां प्राप्तुं तु संपदाम्।
रुचिर्येषां महाभाग्या धन्यं तेषां हि जीवनम्॥ ४७॥

टीका—भौतिक जगत में सुविधा-सामग्री भरी पड़ी है तो आत्मिक क्षेत्र तृप्ति, तुष्टि और शांतिरूपी संपदा से संपन्न है। जो व्यक्ति सुविधा साधनों में रमते हैं, वे खिलौनों से खेलने वाले बालकों की तरह मंदबुद्धि हैं। जिन्हें आत्मिक जगत की स्वर्गीय संपदा को

प्राप्त करने में रुचि है, उन्हें बड़भागी कहा जाना चाहिए, उन्हीं का मानव जीवन धन्य है ॥ ४५-४७ ॥

बहिर्मुखाः जनाः सर्वे भ्रमजालेषु पाशिताः।
अंतर्मुखाश्च तथ्यज्ञाः सत्यं श्रेयः श्रयंत्यलम् ॥ ४८ ॥

टीका—बहिर्मुखी भ्रम-जंजालों में उलझते हैं। अंतर्मुखी तथ्यों को समझते, सत्य को अपनाते और श्रेय को पाते हैं ॥ ४८ ॥

अंतर्जगत उत्थानं पर्यवेक्षणमेव च।
आत्मविज्ञानमस्त्यस्मिन्नुपलब्धिर्यथा-यथा ॥ ४९ ॥
यस्य तत्क्रमतोगृह्णन्नृषीणां भूमिकामपि।
देवदूतावताराणां महामानवरूपिणाम् ॥ ५० ॥
सफलं मानवं जन्म स्वं करोति तथा च सः।
कल्याणमार्गं जगतः प्रशास्ति च महामुने ॥ ५१ ॥

टीका—अंतर्जगत का पर्यवेक्षण और अभ्युत्थान ही आत्म विज्ञान है। जिसे यह उपलब्धि जितनी मिल सकी, वह उसी क्रम में महामानवों, ऋषियों, देवदूतों और अवतारियों की भूमिका निभाते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करता है तथा जगत के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करता है ॥ ४९-५१ ॥

जिज्ञासायाः समाधानं त्वेकमेवास्ति तात ! यत्।
स्वतंत्रो मानवः स्वस्यां प्रगतौ दुर्गतौ भृशम् ॥ ५२ ॥
वृत्वा स्वयमनौचित्यमात्मने स विषद्रुमम्।
स्थिरयत्यात्मनो यस्य गौरवे विपुला रुचिः ॥ ५३ ॥
आत्मनिर्माणरूपे यः पुरुषार्थे रतस्तथा।
सन्मार्गे साहसं गन्तुं तस्य पातो न संभवः ॥ ५४ ॥

टीका—हे तात ! आपकी जिज्ञासा का समाधान एक ही है कि मनुष्य को अपनी प्रगति और दुर्गति की पूरी छूट मिली है। अनौचित्य का वरण करके वह अपने लिए स्वयं ही विषवृक्ष रोपता है। जिसे आत्मगौरव का चाव है, जो आत्मनिर्माणरूपी पुरुषार्थ में रत रहता है, जिसमें सन्मार्ग पर चलने का साहस है, उसका कभी पतन–पराभव नहीं होता ॥ ५२–५४ ॥

सामान्यास्तु जनाः सर्वे गृह्णंतो ऽ दूरदर्शिताम्।
विवेकं संत्यजंतश्चाकर्षणेषु भ्रमद्धियः ॥ ५५ ॥
कुमार्गगामिनो भूत्वा दुरूहां दुःखसंततिम्।
सहंते, मौढ्यमायया यदि मोक्तुं समे तु ते ॥ ५६ ॥
आत्मावलंबिनां यादृक् साहसं तु विवेकिनाम्।
लभ्येरंस्तेऽपि कुत्रापि ता विपत्ति विभीषिकाः ॥ ५७ ॥
दृष्टुं नैव तु शक्ष्यामो दृष्टा मग्नास्तु यत्र ते।
समाप्तिं नरकस्यायं हाहाकारो गमिष्यति ॥ ५८ ॥

टीका—सामान्य जन अदूरदर्शिता अपनाते, विवेक को छोड़ आकर्षणों में भटकते हैं। कुमार्गगामी बनकर दुरूह दुःख सहते हैं, यदि उन्हें इस मूढ़ता की माया से छूटने का और विवेकवान आत्मावलंबियों जैसा साहस मिल सके तो कहीं भी उन विपत्ति विभीषिकाओं के दर्शन न हों जिनमें वे बुरी तरह धँसे–फँसे दृष्टिगोचर होते हैं, साथ ही नारकीय वातावरण का यह हाहाकार समाप्त हो जाए ॥ ५५–५८ ॥

महामनीषिणस्तत्त्वज्ञानिन एतदेव हि।
आत्मतत्त्वं तु विज्ञातुमुद्बोद्धुं चास्य मूर्च्छनाम् ॥ ५९ ॥
प्रौढं परिष्कृतं कर्तुं भजंते योग-साधनाम्।
तपस्यायां रता हेम्नः परिष्कार इवास्ति-यत् ॥ ६० ॥

टीका—तत्त्वज्ञानी-महामनीषी इसी आत्मतत्त्व को समझने, उसकी मूर्च्छना जगाने और उसे प्रौढ़, परिष्कृत करने के लिए योग-साधना करते और तपश्चर्या में निरत होते हैं। यह कार्य स्वर्ण को परिष्कृत करने जैसा है॥ ५९-६०॥

पात्रताया विकासोऽयं ह्यनेकानेक संपदाम्।
उपलब्धेर्विभूतीनां पंथाच केवलः स्मृतः॥ ६१॥

टीका—पात्रता का विकास ही अनेकानेक विभूतियों और संपदाओं की उपलब्धि का एकमात्र मार्ग है॥ ६१॥

आत्मनिरीक्षणं चात्मनिर्माणः सर्वतो महान्।
पुरुषार्थो मतो नास्ति साधना याचनाऽथ च॥ ६२॥
परावलंबनं नैव विद्यते विद्धि तामतः।
आत्मनस्तु परिष्कारस्याधारः सुनियोजितः॥ ६३॥

टीका—आत्मनिरीक्षण और आत्मनिर्माण ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। साधना न तो परवलंबन है, न याचना। उसे आत्मपरिष्कार का सुनियोजित आधार ही माना गया है॥ ६२-६३॥

आत्मनस्तु विकासो यः कर्तुं शक्तः स एव हि।
सुसंस्कृतश्च सफलस्तथ्यस्यास्य महामुने॥ ६४॥
प्रत्यक्षायै क्रियंतेऽनुभूत्यै च साधनात्मकाः।
पराक्रमा वयं नैवमृषयो हे मनीषिणः॥ ६५॥
अध्यात्मामृतपानस्य सीम्नि बद्धा भवेम तु।
उपलब्धिभिरेताभिर्बोद्धयाः सर्वे जना सदा॥ ६६॥
जिज्ञासानां न चैवासां संभवेदनिवार्यता।
समर्थो ना कथं दीनहीनवद् विविधा इमाः॥ ६७॥

यातनाः पतनस्याथ पराभूतेश्च संततिम्।
सहते पातगर्ताच्च बहिरेतुं न हि क्षमः ॥ ६८ ॥

टीका—हे महर्षे ! जो आत्मविकास कर सका, वही सफल सुसंस्कृत बनता है। इस तथ्य की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए ही साधनात्मक पराक्रम किए जाते हैं। हे ऋषि-मनीषियो ! हम सब इस अध्यात्म अमृत का पान करने तक ही सीमित न रहें, वरन अपनी उपलब्धियों से जन-जन को अवगत कराएँ। इस स्थिति में ऐसी जिज्ञासा की आवश्यकता ही न पड़े कि समर्थ मनुष्य दीन-हीनों की तरह विविध पतन-पराभव की यातनाएँ क्यों सहता है, पतन के गर्त से बाहर क्यों नहीं निकल पाता ॥ ६४-६८ ॥

यथार्थज्ञानसंयुक्तं श्रुत्वा तु प्रतिपादनम्।
आरण्यकस्थिताः सर्वे तुष्टास्ते तु महर्षयः ॥ ६९ ॥
समाधानं च लब्धुं तत्सन्दर्भेऽधिकं ततः।
ज्ञातुमन्या च जिज्ञासा प्रचंडावेगतोऽवहत् ॥ ७० ॥
आरण्यकस्थिताः सर्वे ऋषयो ये मनीषिणः।
सन्दर्भे प्रष्टुमन्यच्च यद्यप्यासन् समुत्सुकाः ॥ ७१ ॥
सायंकाले समायाते संध्यावंदन कर्म च।
सम्मुखे प्रस्तुतं, सत्रं समाप्तं दैनिकं ततः ॥ ७२ ॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादो जगाद हे महर्षयः।
भवंतोऽधिकमुत्सुका ज्ञातुं प्रत्यक्षमस्ति हि ॥ ७३ ॥
सत्रमद्यतनं यातु विश्रमं श्वः पुनश्चलेत्।
समाधास्याम्यलं ज्ञानसत्रे जिज्ञासितं भृशम् ॥ ७४ ॥

उत्थितास्ते प्रसन्नायां मुद्रायां तु महर्षयः।
नत्वा तं तु महाप्राज्ञं परस्परमथापि च ॥ ७५ ॥
ऋषयो दैनिकं कर्तुं साधनाकृत्यमुत्थिताः।
द्वितीयेऽह्नि ततोऽप्युग्रा जातोत्कंठा तु बोधितुम्॥ ७६ ॥
चलतां हृदये तेषां सर्वेषामेव या भृशम्।
झंझावात महावेग विजृंभण पराऽभवत्॥ ७७ ॥

टीका—इस यथार्थता से भरे प्रतिपादन को सुनकर आरण्यक में उपस्थित ऋषियों को संतोष भी हुआ और समाधान भी मिला, पर साथ ही इस संदर्भ में अधिक जानने की दूसरी जिज्ञासा और भी प्रचंड वेग से उठ पड़ी। आरण्यक में उपस्थित ऋषि-मनीषी इस संदर्भ में और कुछ पूछना चाहते थे, पर सायंकाल हो जाने और संध्या-वंदन का अनिवार्य नित्यनियम सामने होने के कारण उस दिन का सत्र समाप्त कर दिया गया। महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा—मनीषियो! आप लोग इस संबंध में अधिक जानना चाहते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। आप लोग आज के सत्संग को विराम दें। कल पुनः यह ज्ञानसत्र चलेगा, तब आपकी अन्य जिज्ञासाओं का विस्तारपूर्वक समाधान करेंगे। सभी प्रसन्न मुद्रा में उठे। महाप्राज्ञ को अभिवंदन और नमन करके ऋषिगण अपने नियमित साधना-कृत्य के लिए चले गए। दूसरे दिन और भी अधिक जानने की प्रबल उत्कंठा चलते-चलाते उन सबके मन में आँधी-तूफान जैसी मचल रही थी॥ ६९-७७॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययो : युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री पिप्पलाद-अष्टावक्र ऋषि-संवादे 'अध्यात्म दर्शन' इति प्रकरणो नाम
॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

अजस्र अनुदान उपलब्धि प्रकरण

आरण्यकस्य सत्रस्य द्वितीयेऽह्नि मनीषिणः।
ऋषयः कृतनित्यास्ते प्रभातसमये शुभे ॥ १ ॥
देवदारुतरूणां ते संगताः सघने शुभे।
उपवने तं महाप्राज्ञं व्यासपीठसुशोभितम्॥ २ ॥
नत्वा पिप्पलादं ते, क्रमशः स्वं स्वमासनम्।
यथाक्रमं व्यराजंत तत्त्वजिज्ञासवः समे॥ ३ ॥
स्मारयन् प्रथमं तत्त्वचिन्तनं निर्गताह्निकम्।
श्वेतकेतुः समाधातारं पप्रच्छ तु वाग्मिनम्॥ ४ ॥

टीका—आरण्यक सत्र के दूसरे दिन प्रातःकाल की वेला में नित्य-नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त होकर सभी ऋषि-मनीषी पुनीत देवदारु वृक्षों के सघन, सुंदर उद्यान में एकत्रित हुए। व्यासपीठ पर विराजमान महाप्राज्ञ पिप्पलाद को नमन-वंदन करने के उपरांत वे सभी तत्त्वजिज्ञासु अपने-अपने नियत स्थान पर यथाक्रम विराजमान हो गए। पिछले दिन के तत्त्वचिंतन का स्मरण दिलाते हुए विचारवान श्वेतकेतु ने समाधानी प्रवक्ता से पूछा— ॥ १-४ ॥

श्वेतकेतुः उवाच—

देव ! किं सर्वथा मर्त्यः स्वतंत्रोऽथ च सर्वथा।
परिपूर्णोऽनपेक्ष्योऽन्यैः प्रगतेः पथि संचरन्॥ ५ ॥
स्वतंत्रातायां तस्यास्ति बाधको नहि कोऽपि किम्।
यद् यद् वांछति तत्तत् सक्षमः कर्तुमृषीश्वर ॥ ६ ॥

सर्वस्वं किं तदिच्छास्ति सामर्थ्यं च तदीयकम्।
भवता मानवस्यालं गरिम्णो यद्विनिर्मितौ ॥ ७॥
ईश्वरानुग्रहः प्रोक्तो व्यक्तिसौभाग्यमेव च।
यथार्थमपि तत्रालं, काठिन्यं व्यावहारिकम्॥ ८॥
क्षममाणो बालबुद्धिं कृपया वद मानवः।
सन्मार्गप्रस्थितोऽन्यस्यापेक्षां कुरुते न वा ॥ ९॥

टीका—देव ! क्या मनुष्य सर्वथा स्वतंत्र और सर्वथा परिपूर्ण है? क्या उसे प्रगतिक्रम पर अग्रसर होते हुए किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती। हे ऋषि श्रेष्ठ ! क्या उसकी स्वतंत्रता में कोई बाधक नहीं है? क्या वह जो चाहे सो कर सकता है? क्या उसकी इच्छा एवं सामर्थ्य ही सब कुछ है? आपने मनुष्य की गरिमा बताते हुए ईश्वर के अनुग्रह और व्यक्ति के सौभाग्य की चर्चा की थी । वह यथार्थ होते हुए भी, उसमें कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं। हमारी बालबुद्धि को क्षमा करते हुए कृपया यह कहें कि मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अन्य किसी की सहायता अपेक्षित है या नहीं॥ ५-९ ॥

प्रश्नं श्रुत्वा महाप्राज्ञः प्रसन्नः प्रशशंस सः।
जिज्ञासूनां मतिं सूक्ष्मां कथयामास तात हे॥ १०॥
सारयुक्ता व आशंका समाधानं च श्रूयताम्।
तस्याः सर्वैः बुधैः सार्धं सावधानेन चेतसा॥ ११॥

टीका—प्रश्न को सुनकर महाप्राज्ञ बहुत प्रसन्न हुए, जिज्ञासुओं की सूक्ष्मबुद्धि को सराहा और कहा तात ! तुम्हारी आशंका सारगर्भित है। उसका समाधान ध्यानपूर्वक अन्य विद्वानों के साथ श्रवण करें॥ १०-११॥

जीवोंऽश ईश्वरस्यास्ति तेनैवास्ति च संयुतः।
श्रेष्ठमार्गे प्रयातुं चेद् याचते शक्तिमेष तु॥ १२॥
उदारः सद दात्येनां प्राप्य चैवं सहायताम्।
कृतकृत्या भवंत्येते भक्तास्तेजस्विनोऽपि च॥ १३॥
सिद्धींस्ता अद्‌भुतास्ते तु वृतुं शक्ता भवंति च।
अग्रगानां सुरूपाश्च प्राप्यभूतीः गताः श्रमम्॥ १४॥

टीका—जीव ईश्वर का अंश है, उसके साथ जुड़ा हुआ भी है। श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने के लिए जब शक्ति माँगी जाती है तो वह उसे उदारतापूर्वक देता भी है। इस प्रकार की सहायता पाकर अनेकों भक्तजन कृतकृत्य हुए हैं, तेजस्वी बने हैं, अद्‌भुत सफलताएँ वरण करने में समर्थ हुए हैं तथा अग्रगामियों के अनुरूप विभूतियाँ प्राप्त करते हुए परमलक्ष्य तक पहुँचे हैं॥ १२-१४॥

अनन्तं तत्परं ब्रह्मतदचिन्त्यमगोचरम्।
समग्रं तत्तु विज्ञातुं न हि शक्यं कथञ्चन॥ १५॥
मनुष्येण सहैवास्ति सत्ता तु परमात्मनः।
संयुक्तोत्कृष्टतादर्शवादिता परमात्मना॥ १६॥
सघनता तस्य जीवेन सह संयुज्यतेऽतः।
अनुग्रहेण तस्यापुर्भक्ता भूतीर्वरानलम्॥ १७॥

टीका—परब्रह्म अनंत, अचिंत्य, अगोचर एवं अद्‌भुत है, उसे समग्ररूप में जान सकना किसी के लिए भी शक्य नहीं। मनुष्य के साथ उसकी परमात्मसत्ता ही जुड़ती है। उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समुच्चय ही परमात्मा है जीव के साथ उसी की सघनता जुड़ती है, उसी के अनुग्रह से वैभव वरदान का भंडार भक्तजनों को हस्तगत होता है॥ १५-१७॥

आदर्शभूतासत्ता तु परमात्मन एव सा।
युज्यते मानवैर्योग्यैरनुरूपैरलं मुदा ॥१८॥
अनुरूपत्वमेवैतदनुकूलत्वमेव च ।
उच्यते पात्रता तां च प्राप्तुमेवाप्त पूरुषाः ॥१९॥
उपासनासाधनानां विधानानि व्यधुर्न तु।
स्तवनोपक्रमस्यास्ति प्रभोर्वोपहृते रतिः ॥२०॥
पात्रतां विकसितां कृत्वा मनुष्यः परमात्मनः।
अनेकानेकदिव्यानुदानान्यासादयत्ययम् ॥२१॥

टीका—आदर्शों की प्रतीक परमात्मसत्ता उन्हीं मनुष्यों के साथ जुड़ती प्रसन्न होती है, जो उसके अनुरूप हैं। इस अनुरूपता, अनुकूलता को ही पात्रता कहते हैं। पात्रता विकसित करने के लिए ही आप्तजनों ने उपासना और साधना का विधान बनाया है। ईश्वर को किसी स्तवन, उपक्रम या उपहार की आवश्यकता नहीं है। पात्रता विकसित करके ही मनुष्य परमात्मा से अनेकानेक दिव्य अनुदान प्राप्त करता है॥ १८-२१॥

गुणकर्मस्वभावेषूत्कृष्टत्वस्याभिवृद्धिका ।
परमेशस्य मुख्या साऽनुकंपा विद्यते ध्रुवम्॥२२॥
एतदाश्रित्य व्यक्तित्वं परिष्कृतमथो भवेत्।
फलतोऽन्तः प्रखरतां बाह्ये स साधु भावनाम्॥२३॥
वर्धमानां सदा पश्यत्यलं द्वे यस्य चागते।
विभूती वस्तुनस्तस्य नास्ति कस्यापि न्यूनता॥२४॥

टीका—गुण-कर्म-स्वभाव में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि निश्चित ही परमेश्वर की प्रमुख अनुकंपा है। इसी के सहारे व्यक्तित्व परिष्कृत

होता है। फलतः उपलब्धकर्त्ता अंतःक्षेत्र में प्रखरता और बाह्य क्षेत्र में सद्भावना बढ़ती देखता है। जिन्हें ये दो विभूतियाँ मिलीं, उन्हें किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहती॥ २२-२४॥

ईश्वरस्य तु सद्भक्तिः साधकं मान्य सद्गुणैः।
परिपूर्णं विनिर्माति सहैवोदारतां तथा ॥ २५ ॥
ददाति येन कार्यं स्वं पूरयन्न्यूनतस्तथा।
उपलब्धेर्लाभयुतं कर्तुं शक्येत भूतलम् ॥ २६ ॥
एतादृशास्तु भक्ता ये भूसुरास्ते तु निश्चितम्।
अयाचितमजस्रं ते लभंते योगमैश्वरम् ॥ २७ ॥

टीका—सच्ची ईश्वरभक्ति साधक को मानवी सद्गुणों से परिपूर्ण बनाती है। साथ ही ऐसी उदारता प्रदान करती है कि अपना काम न्यूनतम में चलाकर उपलब्धि से विश्व-वसुधा को लाभान्वित किया जा सके। ऐसे भक्तजन इस धरती के देवता होते हैं। उन्हें बिना माँगे ही ईश्वर का अजस्र सहयोग मिलता है॥ २५-२७॥

ईश्वरानुग्रहमात्मविश्वासं योऽधिगच्छति।
समर्थः स तथा मन्ये कुबेरेंद्रानुकंपितः॥ २८ ॥
इमान्याप्तुमेकमात्रमुपायो योग्यतोदयः।
सघनात्मीयता चास्य हेतोर्योज्येश्वरेण तु॥ २९ ॥
अनुशासनं प्रभोस्तस्य स्वीकर्त्तव्यं भवत्यपि।
महते समर्पितात्मानस्तद्रूपसमतां गताः॥ ३० ॥

टीका—आत्मविश्वास और ईश्वर अनुग्रह उपलब्ध कर लेने वाला व्यक्ति इतना समर्थ संपन्न होती है, मानो उसे इंद्र-कुबेर का सहयोग मिल गया। इन्हें प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है—अपनी प्रामाणिकता विकसित करना। इसके लिए ईश्वर के साथ सघन

आत्मीयता जोड़नी होती है, उसका अनुशासन अपनाना होता है। महान के साथ समर्पण-विसर्जन करने वाले तद्रूप होते देखे गए हैं॥ २८-३०॥

साधनाऽऽराधनोपासनानां तु त्रिभिरीश्वरः।
उपायैर्जीवसत्तायां प्रवेशं लभते ध्रुवम्॥ ३१॥
देवोपमचरित्रं च निर्मातुं प्रेरयत्यसौ।
मनुष्यमेतदालोकानुरूपं ये चलंति ते॥ ३२॥
भक्ता असीम सामर्थ्यं प्राप्नुवंति यथा च ते।
आश्रयं कंचनान्यं तु न भजंति मुनीश्वराः॥ ३३॥
सर्वाभ्यश्च दिशाभ्यस्तु वर्षतीव तथांजसा।
सहयोगोऽनुकूलायां स्थितौ सौभाग्यसंपदा॥ ३४

टीका—उपासना-साधना-आराधना के तीन उपायों से ईश्वर, जीवसत्ता में प्रवेश करता है तथा मनुष्य को देवोपमचिंतन-चरित्र विनिर्मित करने की प्रेरणा देता है। इस आलोक के अनुरूप साहसपूर्वक चलने वाले, भक्तजन इतनी असीम सामर्थ्य प्राप्त करते हैं कि हे मुनीश्वरो! फिर उन्हें अन्य किसी का सहारा लेना नहीं पड़ता। उन पर हर दिशा से सहयोग अनायास ही बरसता है, जैसे अनुकूल परिस्थितियों में सौभाग्य, संपत्ति आदि॥ ३१-३४॥

तमुवाच महाप्राज्ञः श्वेतकेतो ! समर्चना।
प्रभुसंपर्किणी वाग्भिरुपचारोपहारकैः ॥ ३५॥
सदृशैः साधनैर्हीनैः संभवेत्कितु तस्य ताम्।
लब्धुं दयामपेक्ष्योऽयमात्मोत्साही च पावनः॥ ३६॥

टीका—महाप्राज्ञ ने कहा—हे श्वेतकेतु ! ईश्वर से संपर्क जोड़ने वाला, भजन-पूजा तो वचन, उपचार, उपहार जैसे नगण्य साधनों से भी

हो सकता है, पर उसकी अनुकंपा प्राप्त करने के लिए अपने को पवित्र-प्रखर बनाना होता है ॥ ३५-३६ ॥

तथोदारमना एवं परमार्थे रतो भवेत्।
सर्वेष्वात्मानमेवं ये पश्यंत्यात्मनि तानपि॥ ३७॥
वण्टयंति सुखं दुःखं स्वयं गृह्णन्ति पूरुषाः।
वसुधैव कुटुंबं च येषामेतच्चराचरम् ॥ ३८॥
उदारचेतसस्त्वेवं मनुष्याः सत्तया प्रभोः।
घनत्वं यंति स्वीयाभिःसाधनाभिस्तु कर्मणाम्॥ ३९॥

टीका—साथ ही उदारमना एवं परमार्थरत रहना पड़ता है। जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं जो दुःख बँटाते और सुख बँटाते हैं, जिनके लिए समस्त संसार अपना कुटुंब है। ऐसे उदारचेता मनुष्य अपनी कर्म-साधना से परमात्मसत्ता के साथ घनिष्ठ होते जाते हैं॥ ३७-३९॥

सद्भावैश्च सुसंपन्नाः सत्कर्मनिरताश्च ये।
आत्मानस्तुल्यरूपास्ते ज्ञेयास्तु परमात्मनः॥ ४०॥

टीका—सद्भाव संपन्न सत्कर्म परायण आत्माएँ, परमात्मा के ही समतुल्य होती हैं॥ ४०॥

आत्मशक्तेः पूरिका तु शक्तिः सा परमात्मनः।
अपेक्ष्यं बाह्यसाहाय्यं महाभाग ! ततः शृणु॥ ४१॥
एतत्साधनया सर्वं सिद्ध्येत्यात्मनि सौम्य तु।
परमात्मनि संप्रीते प्रीताः सर्वेऽलमञ्जसा॥ ४२॥
अयाचितं च साहाय्यं कुर्वते येन चार्जिताः।
भक्तश्रद्धा विप्रप्रज्ञा साधुनिष्ठा परार्थगा ॥ ४३॥

ज्ञातव्यं स्रोत एवैतत्सामर्थ्यस्य समागतम्।
तस्य, नास्ति किमप्यत्र दुर्लभं ज्ञायतामिदम्॥ ४४॥

टीका—हे महाभाग ! आत्मबल का पूरक परमात्मबल है। बाहरी सहायता अपेक्षित हो तो, इसी एक साधना से और सब सध जाता है। आत्मा और परमात्मा दो को प्रसन्न कर लेने पर और सब अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा बिना माँगे ही सहायता करते हैं। जिसने भक्त जैसी श्रद्धा, ब्राह्मण जैसी प्रज्ञा और साधु जैसी परमार्थ निष्ठा अर्जित कर ली, समझना चाहिए उसे सामर्थ्य और संपन्नता का स्रोत हस्तगत हो गया, अब उसे कुछ भी दुर्लभ नहीं ऐसा समझना चाहिए॥ ४१-४४॥

अपेक्ष्यते लघूनां तु साहाय्यं महतां किमु।
उपकुर्याल्लघुस्त्वात्मा महतः परमात्मनः॥ ४५॥
तेनैव घनसंबंधः कर्त्तव्यस्तोष्य एव सः।
अनुकम्पां च तस्यैव प्राप्तुं तत्क्रियतां मनः॥ ४६॥

टीका—छोटों को बड़ों की सहायता अपेक्षित होती है। छोटा बड़े की क्या सहायता करेगा। आत्मा से वरिष्ठ केवल परमात्मा है। उसी के साथ घनिष्ठता जोड़ने, संतुष्ट करने और अनुकंपा अर्जित करने की बात सोचनी चाहिए॥ ४५-४६॥

प्राणिनां दानसेवाभिः साधनाभिश्च श्रेष्ठताम्।
प्राप्येश्वरात्तु संप्राप्तिः प्राणिभ्यश्च विभाजनम्॥ ४७॥
सत्या संपन्नता ह्यत्र सामर्थ्यं चापि विद्यते।
जीवनस्य च सर्वस्य सार्थक्यं मन्यतामये॥ ४८॥

टीका—प्राणियों को तो देने की, सेवा-साधना करते हुए उनसे वरिष्ठ ही बनना चाहिए। ईश्वर से पाना और प्राणियों को बाँटना इसी में सच्ची संपन्नता, समर्थता एवं जीवन की सार्थकता है॥ ४७-४८॥

ईश्वरे दृढविश्वासा ये ते कर्मफलस्य हि।
विधाने विश्वसंत्येवं क्रियाया याः प्रतिक्रियाः ॥ ४९ ॥
उत्पद्यंते विलंबेन ततो विचलिता न ते।
सन्मार्गे प्रस्थितानां सध्रीचिविश्वास ईश्वरे॥ ५० ॥
चिन्तयंति न तेऽनिष्टं भीता नैव विरोधिनः।
असहाया हताशा न बलिष्ठा ईश्वराश्रिताः॥ ५१ ॥
न याचंते न कामंते भक्तास्ते क्षुद्रतां निजाम्।
महत्तया तु युञ्जंति तत्साम्यं प्राप्नुवंति च॥ ५२ ॥
स्तवोपचारपणनमनंताः कामनास्ततः।
वञ्चकास्तु प्रकुर्वंति नहि भक्ताः कदाचन॥ ५३ ॥

टीका—ईश्वर विश्वासी उसके कर्मफल विधान पर भी विश्वास करते हैं। अस्तु, वे क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होने में देर लगने से भी विचलित नहीं होते। सन्मार्ग पर चलते हुए जिन्हें ईश्वर के साथ होने का विश्वास रहता है, वे न अनिष्ट की बात सोचते हैं, न विरोधी से भयभीत होते, न एकाकी होने की बात सोचकर हताश ही होते हैं। ईश्वरभक्त सच्चे अर्थों में बलिष्ठ होते हैं। भक्त न याचना करते हैं, न कामना वे अपनी क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ते और तत्सम बन जाते हैं। स्तवन–उपचार के बदले असीम मनोकामनाएँ पूरी करने की बात प्रवंचक करते हैं, भक्तजन नहीं॥ ४९–५३ ॥

श्वेतकेतो जगत्यत्र भौतिके दृश्यतामये।
शरीरस्यबलं शस्त्रबलं संघबलं तथा॥ ५४॥
बलं बुद्धेर्धनस्यापि कला कौशलजं बलम्।
आत्मिके जगति प्रोक्तमेकमात्मबलं त्वलम्॥ ५५ ॥

तस्योपार्जनमीशस्य भक्तिक्षेत्रे तु संभवम्।
सच्चिन्तनेन सत्कर्म बीजस्यारोपणेन च॥ ५६॥

टीका—हे श्वेतकेतु! भौतिक जगत में शरीरबल, शस्त्रबल, संगठनबल, बुद्धिबल, धनबल, कला-कौशल जैसी अनेकों सामर्थ्यें हैं, किंतु आत्मिक जगत में एक ही बल है—आत्मबल। उसका उपार्जन ईश्वरभक्ति के क्षेत्र में सच्चिंतन और सत्कर्म का बीजारोपण करते हुए संभव होता है॥ ५४-५६॥

आत्मबलातिरिक्ता तु विभूतिर्नहि जीवने।
मनुष्यस्य मता श्रेष्ठा विशालात्मा तु यो नरः॥ ५७॥
सामर्थ्यवान् स एवास्ति संपत्या युक्त एव च।
उपार्जनमिदं भुक्तावकृत्वा सावधानतः॥ ५८॥
महत्सूद्देश्य केष्वेव योजनं महतामिदम्।
वैशिष्ट्यं वर्तते येन जगत् सन्मंगलं भवेत्॥ ५९॥

टीका—आत्मबल से बढ़कर मनुष्य जीवन में और कोई बड़ी विभूति नहीं है। जो इसका धनी है, उसे सामर्थ्यवान पाया जाता है और संपत्तिवान भी। इस उपार्जन को विलास में न खरच करके सावधानी से महान उद्देश्यों में नियोजित करना महामानवों की विशिष्टता है, जिससे जगत मंगलमय बन जाता है॥ ५७-५९॥

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षं तस्य लभ्यते।
अभ्यर्थनाभिरेतत्सत्परिणामपरंपरा॥ ६०॥
जीवनं नोपहारोऽस्ति प्रभोः प्रतिनिधिस्तु तत्।
जीवनोपासनामूला सिद्ध्यतीशस्य साधना॥ ६१॥
प्रतिफलानि तस्यास्तु सामान्यं कुर्वते जनम्।
असामान्यं ध्वनत्येतज्जीवो ब्रह्मैव नापरः॥ ६२॥

टीका—जीवन प्रत्यक्ष देवता है। उसकी अभ्यर्थना करने से हाथोहाथ सत्परिणामों की प्राप्ति होती है। जीवन को ईश्वर का उपहार नहीं, प्रतिनिधि कहा गया है। जीवन-साधना से ही ईश्वर-साधना सधती है उसी के प्रतिफल सामान्य असामान्य बनते हैं। **जीवो ब्रह्मैव नापरः** कथन इसी को ध्वनित करता है॥ ६०-६२॥

श्वेतकेतो ! मानवोऽयं महान् पूर्णाद्‌यतोध्रुवम्।
उत्पन्नस्तथ्यतस्तेन सोऽपिपूर्णोऽस्ति मन्यताम्॥ ६३॥
कषायकल्मषावृत्तो दरिद्रो दीन एव च।
शिथिलीकरोति यावच्च मालिन्यभवबंधनम्। ६४॥
सामीप्यं सरलं तस्य तावदीशस्य संभवेत्।
ईश्वरस्य समीपे यः सामर्थ्यमधितिष्ठति॥ ६५॥

टीका—हे श्वेतकेतु ! मनुष्य निश्चय ही महान है। वह ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण तथ्यतः पूर्ण ही है, कषाय-कल्मषों से आवृत्त होकर ही वह दीन-दरिद्र बनता है। मलीनता के भवबंधनों को जो जितना शिथिल करता है, उसके लिए ईश्वर की समीपता उतनी ही सरल बनती जाती है। जो ईश्वर के निकट है, उसे सामर्थ्य का अधिष्ठाता माना जाता है॥ ६३-६५॥

अरण्यक साधनायां हे ब्रह्मविद्याभिसाधनाः।
ब्रह्मवेत्तार ! आत्मीयं सामर्थ्यं ज्ञायतां भृशम्॥ ६६॥
विश्वासस्तत्र कर्त्तव्यः तंम वर्धयतानिशम्।
बलिष्ठतायै साहाय्यं यद्यपेक्षेत भिक्ष तत्॥ ६७॥
सहैवात्र च विज्ञेयस्त्वैश्वरोऽनुग्रहः सदा।
अनुरूपः पात्रताया लभ्यते नात्र संशयः॥ ६८॥

टीका—हे आरण्यक ! साधना में, ब्रह्मविद्या की साधना में निरत ब्रह्मवेत्ताओ ! आत्मा की सामर्थ्य को समझो उस पर विश्वास करो और बढ़ाओ। बलिष्ठता के लिए यदि सहायता की आवश्यकता पड़े तो ईश्वर से माँगो साथ ही ध्यान रखो पात्रता के अनुरूप ही दैवी अनुग्रह उपलब्ध होता है, इसमें संदेह नहीं ॥ ६६-६८ ॥

विडंबनाऽथ दारिद्र्यं वैपन्यं च विभीषिकाः।
दृश्यंते संकटादीनि संसारे यानि तानि तु ॥ ६९ ॥
निकृष्टतोदितानीह चिंतनस्याथ मन्यताम्।
दुश्चारित्र्योदितान्येव भ्रष्टतामूलकानि च ॥ ७० ॥

टीका—संसार में दरिद्रता, विपन्नता, विडंबना, विभीषिका के जो अनेकानेक संकट दृष्टिगोचर होते हैं, वे मात्र चिंतन में निकृष्टता और चरित्र में भ्रष्टता बढ़ जाने के कारण ही हैं ॥ ६९-७० ॥

यद्यात्मशोधनेनाथ चात्मनिर्माणकेन च।
व्यक्तित्वं विकसेत्तर्हि पलायंत इमान्यपि ॥ ७१ ॥
यथा सूर्योदये जाते न ज्ञायंते निशाचराः।
कथं ब्रह्मोदये जाते भ्रष्टा माया विमोहयेत् ॥ ७२ ॥

टीका—यदि आत्मशोधन और आत्मनिर्माण द्वारा व्यक्तित्व को विकसित किया जा सके तो फिर समस्त संकट उसी प्रकार पलायन कर जाते हैं, जैसे सूर्योदय होने पर निशाचरों का कहीं अता-पता नहीं लगता। भला ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भ्रष्टाचार की माया कैसे टिकेगी ॥ ७१-७२ ॥

ऋषिभिर्मानवानां तु दुःखदारिद्र्य कारणम्।
पतनस्य पराभूतेर्भिन्नत्वं लोकितं द्वयोः ॥ ७३ ॥
न्यूनतां तामपाकर्तुं स्वस्मादन्येभ्य एव च।
व्यचारयन् विभिन्नाँस्तानुपायान् विश्वमंगलान् ॥ ७४ ॥

टीका—मनुष्यों के दुःख दारिद्रय का पतन-पराभव का कारण आत्मा और परमात्मा की विलगता को ऋषियों ने जाना और वे उस कमी को अपने में से तथा दूसरों में से हटाने के लिए कल्याणकारी विभिन्न उपाय सोचने लगे॥ ७३-७४॥

दूरीभूतस्तु संदेहोऽयं समेषां विपत्तयः।
अन्योत्पादिताः संति यतः पातोत्थिती तथा॥ ७५॥
मनुष्यभूमिकाजन्ये तन्मनुष्यस्य स्वां दिशम्।
शोधयित्वानुकूल्ये च प्रातकूल्यं विवर्तितुम्॥ ७६॥
कठिनं नेति तथ्यं स पिप्पलादो महामतिः।
सगांभीर्यं यथाऽवोचत्ततस्तेषां स्वमान्यता॥ ७७॥
पुष्टा सात्मनि संयुक्ते परमात्मनि निश्चितः।
संकटानां समाधाने विश्वासः सर्वथा ततः॥ ७८॥
द्वितीयाह्निकचर्चायां सर्वे जिज्ञासवश्च ते।
यथार्थतायुतं पूर्णं समाधानं च लेभिरे॥ ७९॥
तृप्ता तथापि जिज्ञासा तेषां नैव तथा च ते।
संदर्भेऽस्मिन्ननेकाश्च पिपृच्छा हृदि बिभ्रतः॥ ८०॥
साधकाः सत्रपूर्तौ ते नित्यनैमित्तिकां ततः।
साधनां कर्तुकामास्ते गताः संनति पूर्वकम्॥ ८१॥

टीका—सभी का यह संदेह दूर हो गया कि विपत्तियाँ दूसरों द्वारा थोपी जाती हैं। जब उत्थान-पतन के लिए स्वयं ही भूमिका बनाता है तो उसे अपनी दिशाधारा सुधार कर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलना तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए। यह तथ्य महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने जिस गंभीरता के साथ समझाया उससे उनकी पूर्व

मान्यताओं को और भी अधिक बल मिला और आत्मा को परमात्मा से मिला देने पर उनका सुनिश्चित विश्वास हो गया। दूसरे दिन भी इस चर्चा से सभी जिज्ञासुओं को यथार्थता से भरा-पूरा समाधान मिला। इतने पर भी उनको सर्वथा तृप्ति न मिली। इस संदर्भ की कई और भी बातें कल पूछने की इच्छा मन में रखते हुए साधकगण सत्र अवसान होने पर नित्यनैमित्तिक साधना के लिए अभिवादन पूर्वक विसर्जित हो गए॥ ७५-८१ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-संवादे 'ब्रह्मक्षेत्रादजस्रमनुदानोपलब्धि' इतिप्रकरणो नाम

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता प्रकरण

तृतीये दिवसे सत्र आरण्यक ऋषिः स तु।
शृंगी पूर्व प्रसंगं तं स्मारयन्नाह्निकं ततः॥ १ ॥

शृंगी उवाच—

प्रास्तौषीत्स्वां नवीनां तां जिज्ञासां नतिपूर्वकम्।
का सा देवता यस्या नरस्तूपासनेन हि ॥ २ ॥
प्रत्यक्षं फलमाप्नोति सुखी भवति सोन्नतः।
महाप्राज्ञो पिप्पलादो जगाद मानवस्य हि ॥ ३ ॥

टीका—तीसरे दिन आरण्यक सत्र में शृंगी ऋषि ने पिछले दिन के प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए अपनी नई जिज्ञासा नम्रतापूर्वक प्रस्तुत की। शृंगी ने पूछा—वह कौन-सा देवता है, जिसकी उपासना से मनुष्य प्रत्यक्ष फल पाता और सुखी समुन्नत बनता है। महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा— ॥ १-३ ॥

पिप्पलाद उवाच—

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षमन्यदेवताः।
परलोके कृपां कुर्वन्त्यात्मनो जीवनं परम्॥ ४॥
सुसंस्कृतं च सज्जं च कर्त्तुं चेत्क्रियते भृशम्।
उपासना ततस्तस्या लाभास्त्वस्मिन् हि जीवने॥ ५॥
प्राप्यंते परलोकेऽपि संदेहो नाणुरप्यहो।
अत आवश्यकं यत्तज्जीवनं संस्कृतं भवेत् ॥ ६॥

टीका—मनुष्य का जीवन स्वयं ही प्रत्यक्ष देवता है। अन्य देवताओं की कृपा तो परलोक में मिलती है, पर अपने जीवन को सुघड़, सुसंस्कृत बनाने की उपासना के लाभ तो इस जीवन में भी मिलते हैं, परलोक में भी। इसमें रत्ती भर संदेह नहीं। अतः जीवन को सुसंस्कृत बनाना आवश्यक है॥ ४-६॥

शृंगी उवाच—

सोत्सुकं ज्ञातुमैच्छत्स ऋषिः शृंगी कथं च सः।
देवो जीवनरूपी तु पूज्योऽत्येभ्यो विबोधय॥ ७॥
उपचारः कोऽत्र ग्राह्यो यद् वरदानं ददातु सः।
प्रसन्नः कानि चैवायं वरदानानि यच्छति॥ ८॥
उपेक्षया च रुष्टश्चेत्ततो हानिश्च कीदृशी।
आपतत्यपि, चेत्क्रुद्धो दुराचारफलेन सः॥ ९॥
कस्याशंका ह्यनिष्टस्य महाभाग विबोधय।
मर्मप्रसङ्गमेतं तु विस्तरादृषिपुंगव ! ॥ १०॥
विधेस्तस्य नहि ज्ञानं सर्वसाधारणस्य तु।
मर्मस्पर्शिनाऽनेन प्रश्नेन स ऋषीश्वरः॥ ११॥

टीका—शृंगी ऋषि ने उत्सुकतापूर्वक जानना चाहा, जीवन देवता की पूजा अभ्यर्थना कैसे की जाए? उसे वरदान देने के लिए प्रसन्न करने के निमित्त क्या उपचार अपनाया जाए? जीवन देवता प्रसन्न होने पर क्या वरदान देते हैं। उपेक्षा करने पर यदि वे रुष्ट होते हैं तो क्या हानि उठानी पड़ती है। यदि वे दुर्व्यवहार के फलस्वरूप क्रुद्ध हो उठें तो किस अनिष्ट की आशंका रहती है। हे महाभाग ऋषीश्वर ! इस मर्म प्रसंग को हमें विस्तारपूर्वक समझाएँ। उसके विधि-विधान की सर्वसाधारण को जानकारी है भी नहीं। मर्मस्पर्शी इस प्रश्न से वह ऋषिश्रेष्ठ महाप्राज्ञ पिप्पलाद गंभीर होकर बोले॥ ७-११ ॥

पिप्पलाद उवाच—

महाप्राज्ञः पिप्पलादः सगांभीर्य जगाद च।
जिज्ञासव इह शृंगियुता मान्या मनीषिणः॥ १२ ॥
ध्यानेन श्रूयतां देवः जीवनं फलदायकः।
प्रत्यक्षं तेन सार्धं च व्यवहारो यथा-यथा॥ १३ ॥
हस्तामलकवत्स स्वं प्रभावं परिचाययेत्।
प्रभावं तस्य माहात्म्यं द्रष्टुं सर्वत्र संभवेत्॥ १४ ॥
जीवनं भरितं नूनमनुदानैरजस्रगैः।
येषां सदुपयोगेन परिणामाः समुत्सहाः॥ १५ ॥

टीका—पिप्पलाद बोले—जिज्ञासु शृंगी ऋषि समेत सभी उपस्थित मनीषिगण! ध्यानपूर्वक सुनो, जीवन देवता प्रत्यक्ष फलदायक है। उसके साथ किया गया व्यवहार हस्तामलकवत् अपने प्रभाव का तत्काल परिचय देता है। उनका प्रभाव माहात्म्य हर कहीं दृष्टि पसारकर तत्काल देखा जा सकता है। जीवन अजस्र अनुदानों से लदा है। उनका सदुपयोग करने भर से उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त होते हैं॥ १२-१५ ॥

भ्रांतेर्वशानुगास्तस्य महत्त्वं नैव मानवाः।
जानंति याः समाश्रित्योपलब्धीर्दैवजीवनम्॥ १६॥
जीव्यतेऽत्रामृतं यच्च प्रापयंत्यस्ततां तु तत्।
असंयमस्य छिद्रेभ्यश्च्यावयंतस्तु हंत ते ॥ १७॥
निम्बुकं च्युतनीरं तेऽनुगच्छंतस्तथैव च।
कंकालशेषकामास्ते दारिद्र्यं दूषयंति तु॥ १८॥

टीका—भ्रांतिवश लोग उसका महत्त्व नहीं समझते और जिन उपलब्धियों के सहारे देव जीवन जिया जा सकता था, कितने दुःख की बात है उस अमृत को ऐसे ही असंयम के छिद्रों द्वारा बहाकर अस्त-व्यस्त करते रहते हैं। निचोड़े हुए नीबू की तरह वे छूँछ बनकर रह जाते हैं और दरिद्रता का रोना रोते हैं॥ १६-१८॥

जीवनं कामधेनुर्गौः पातुं दुग्धं तदीयकम्।
कठिनं नो सरंध्रेषु पात्रेषु यदि दुह्यते ॥ १९॥
तर्हि सौभाग्यलाभस्तु कथं तस्याप्तुमिष्यते।
असंयमस्य छिद्राणि रोद्धुं शक्यानि चेत्तदा॥ २०॥
हानिः सा न भवेद्यस्याः कारणादीश्वरेण ना।
निर्मितः सर्वसंपन्नो दरिद्रातीह दीनवत् ॥ २१॥
संघर्षस्थेयशक्तिः सा क्षीयते तु यतस्ततः।
मानवः सहते कष्टान्यनेकानि च सर्वतः ॥ २२॥

टीका—जीवन कामधेनु गौ है। उसका दूध पाने में कोई कठिनाई नहीं है, किंतु यदि छेदों वाले पात्र में दुहा जाएगा तो उस सौभाग्य का लाभ किस प्रकार मिल सकेगा। असंयमरूपी छिद्रों को बंदकर देने से उस हानि से बचा जा सकता है, जिसके कारण ईश्वर द्वारा सर्वसंपन्न बनाया हुआ मनुष्य दीन-दरिद्र बनकर रहता है और संघर्ष

में खड़ा रहने की स्थिति समाप्त हो जाने के कारण अनेकानेक कष्ट सहता है॥ १९-२२॥

शृंगी उवाच—

ऋषिः शृंगी पप्रच्छातः परं कति विधानि तु।
असंयमस्य छिद्राणि भगवन्नभिमतानि ते॥ २३॥
कथं तेभ्यो जीवनस्य रसश्च्योतति मानवाः।
गृह्णन्त्यसंयमं किं ते परिणामान् विदंति नो॥ २४॥
विबोधय रहस्यं मे भूतलं स्वर्गतां ब्रजेत्।
समाप्तिं दुःखदारिद्र्यं येन गच्छेच्च सर्वथा॥ २५॥

टीका—शृंगी ऋषि ने फिर पूछा—भगवन् ! वे असंयमरूपी छिद्र कितने प्रकार के हैं और उनमें होकर किस प्रकार जीवन-रस निचुड़ जाता है। इस असंयम को लोग किस निमित्त अपनाते हैं और उसके दुष्परिणामों को क्यों नहीं समझ पाते? इस रहस्य को समझाएँ, ताकि यह भूतल स्वर्ग हो जाए तथा दुःख-दारिद्र्य सर्वथा समाप्त हो जाए॥ २३-२५॥

पिप्पलादः प्रशमयन्नौत्सुक्यं सारगर्भितम्।
उत्तरं प्राददात्तत्र वाचा संयतया ततः॥ २६॥

पिप्पलाद उवाच—

प्रसन्नमुद्रयोवाच संपदो जीवनस्य तु।
क्षेत्राणि सति चत्वारि श्रूयतां तन्मुनीश्वराः॥ २७॥
शक्तिरिन्द्रियसंबद्धा शक्तिः समयसंयुता।
विचारशक्तिस्तुर्या च शक्तिः साधनरूपिणी॥ २८॥
आद्यास्तिस्रः प्रदत्तास्ता ईश्वरेण प्रयत्नतः।
तिसृणां भौतिके क्षेत्रे तुर्याऽर्ज्या पौरुषाश्रया॥ २९॥

टीका—पिप्पलाद ने उत्सुकता को समाधान करने वाला सारगर्भित उत्तर सुसंयत वाणी में दिया। महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रसन्नमुद्रा में बोले—जीवन-संपदा के चार क्षेत्र हैं, उन्हें सुनिए—(१) इंद्रियशक्ति (२) समयशक्ति (३) विचारशक्ति और (४) साधनशक्ति। प्रथम तीन ईश्वरप्रदत्त हैं, चौथी को इन तीनों के संयुक्त प्रयत्न से भौतिक क्षेत्र में पुरुषार्थ द्वारा अर्जित किया जाता है॥ २६-२९॥

इंद्रियेषु दशस्वेव प्रधाने द्वे तथेन्द्रिये।
जिह्वोपस्थेति संज्ञेचाहारंजिह्वाविवेकतः ॥ ३० ॥
गलाधश्चारयत्येषा शब्दानुच्चारयत्यपि ।
रतिकर्मास्त्युपस्थस्य संततेः कारणात्तथा॥ ३१ ॥
स्रावत्यागः संयमस्तु जिह्वायास्तनुस्वास्थ्यदः।
मनोबलं तथाऽक्षुण्णं जननेन्द्रियसंयमात् ॥ ३२ ॥
जिह्वाऽसंयमोऽजीर्णो दौर्बल्यं वर्धते यतः।
रतिकर्मणि तथाऽऽतुर्यमयोग्यां संततिं तथा॥ ३३ ॥
यौनरोगाँश्चिन्तनं च विकृतं वर्धयत्यलम्।
उभयासंयमे स्वास्थ्यं शारीरं मानसं पतेत्॥ ३४ ॥

टीका—दस इंद्रियों में दो प्रधान हैं—एक जिह्वा, दूसरी जननेंद्रिय। जिह्वा आहार को जाँच-परखकर गले के नीचे उतारने और वार्त्तालाप के लिए शब्दोच्चारण के काम आती है। जननेंद्रिय का कार्य संतानोत्पादन के लिए रतिकर्म तथा स्रावों का परित्याग है। जिह्वा संयम, शारीरिक, स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है और जननेंद्रिय संयम से मनोबल अक्षुण्ण रहता है। जिह्वा के असंयमी होने से अपच होता है और दुर्बलता व रुग्णता बढ़ती है। रतिकर्म में आतुरता होने से अनुपयुक्त संतान, यौन रोग एवं विकृत चिंतन का

दौर बढ़ता है। दोनों का असंयम रहे तो शारीरिक मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होकर रहता है ॥ ३०-३४ ॥

संयमे समयस्यापि शैथिल्ये मानवस्ततः।
अलसश्च प्रमादी च भवत्येतदवेहि तु ॥ ३५ ॥
क्रियतेऽनियमितं यत्तदपूर्णं शिष्यते ध्रुवम्।
समयस्योपयोगस्तु योजितेन श्रमेण हि ॥ ३६ ॥
अलसो व्यस्त व्यक्तित्वो दीर्घजीवी भवन्नपि।
आत्मजीविसमा नैव भवन्त्यस्योपलब्धयः ॥ ३७ ॥

टीका—समयसंयम में शिथिलता रहने से मनुष्य आलसी-प्रमादी बनता है, ऐसा समझो। आलसी अस्त-व्यस्त बहुत दिन जीने पर भी आत्मजीवियों जितनी उपलब्धियाँ अर्जित नहीं कर पाता है। नियमितता न रहने से जो किया जाता है, वह आधा-अधूरा रहता है। समय का सदुपयोग, सुनियोजित श्रम से ही किया जा सकता है ॥ ३५-३७ ॥

योजनाबद्धरूपेण कार्यनिर्धारणं यदि।
तत्कालेन च निर्वाहाद् विज्ञाः साफल्यमाययुः ॥ ३८ ॥
समयाऽसंयमा ये तु ते भवन्त्यल्पजीविनः।
वरमायुः किमप्यास्तां तेषां नृणां विचार्यताम् ॥ ३९ ॥
ईश्वरेण प्रदत्तेयं समयस्य तु संपदा।
योजयेत्तां श्रमेणाथ मनोयोगेन भूयसा ॥ ४० ॥
विभिन्नाः संपदाश्चापि विभूतीरर्जितुं क्षमाः।
समयो जीवनं तच्च नाशयन्नश्यति स्वयम् ॥ ४१ ॥

टीका—योजनाबद्ध कार्य निर्धारण करने और उसका तत्परतापूर्वक निर्वाह करने से ही विज्ञजन अनेकानेक सफलताएँ अर्जित करते हैं।

समझ लो कि समय के असंयमी ही अल्पजीवी कहलाते हैं, भले ही उनकी आयु कुछ भी हो। समय ईश्वरप्रदत्त संपदा है। उसे श्रम मनोयोगपूर्वक नियोजित करके विभिन्न प्रकार की संपदाएँ, विभूतियाँ अर्जित की जाती हैं। जो समय गँवाता है, उसे जीवन गँवाने वाला कहा जाता है॥ ३८-४१ ॥

सूक्ष्मस्तरस्य कर्मास्ति विचारः कार्यरूपकः।
युञ्ज्यात्सत्सु विचाराणां प्रवाहं समयं यथा॥ ४२ ॥
उपयोगिनां विचाराणामुत्कृष्टानां च सीम्नि चेत्।
चिंतनं सीमितं याति ह्युद्देश्ये सृजनात्मके॥ ४३ ॥
महत्त्वपूर्णान्येतानि भूयः प्रतिफलानि च।
उत्पादयंति गृह्णन्ति दिशां यां जितमानसाः ॥ ४४ ॥
सफलास्तत्र जायंते विचाराणाममूलता।
अस्तव्यस्तता चापि विक्षिप्तत्वं हि मन्यताम्॥ ४५ ॥

टीका—विचार सूक्ष्मस्तर का कर्म है। कार्य का मूलरूप विचार है। समय की तरह विचार-प्रवाह को भी सत्प्रयोजनों में निरत रखा जाए उपयोगी-उत्कृष्ट विचारों की मर्यादा में चिंतन को सीमाबद्ध रखने से वे सृजनात्मक प्रयोजनों में लगते हैं और महत्त्वपूर्ण प्रतिफल उत्पन्न करते हैं। मनोनिग्रह के अभ्यासी जिस भी दिशा को अपनाते हैं, उसी में सफल होकर रहते हैं। विचारों की अनगढ़, अस्त-व्यस्तता एक प्रकार की विक्षिप्तता है॥ ४२-४५ ॥

क्षीवानिव शुनो नैव विचारान्मनुजः क्वचित्।
अचिंत्यचिंतने व्यर्थं दिशाहीनान्नियोजयेत् ॥ ४६ ॥
तान् सदैवोपयोगिन्या दिशया धारयाऽपि च।
नियोजयेद् विचारैश्चामूलैर्योऽदधुमनैतिकैः ॥ ४७ ॥

सद्विचारचमूः काचिद् भवेद् याऽचिंत्यचिंतनैः।
विचारैर्युद्ध्यमानेव ताँस्तु विद्रावयेद्द्रुतम्॥ ४८॥

टीका—विचारों को आवारा कुत्तों की तरह अचिंत्य-चिंतन में भटकने न दिया जाए। उन्हें हर समय उपयोगी दिशाधारा के साथ नियोजित करके रखा जाए। अनगढ़-अनैतिक विचारों से जूझने के लिए सद्विचारों की एक सेना बनाकर रखी जाए, जो अचिंत्य-चिंतन उठते ही जूझ पड़ें और उन्हें निरस्त करके भगा दें॥ ४६-४८॥

परिश्रममनोयोगस्यास्ति वित्तं फलं ध्रुवम्।
प्रत्यक्षं, नीतियुक्तं तु वित्तमेतदुपार्जयेत्॥ ४९॥
देशवासिजनानां च स्तरं हि प्रति पूरुषम्।
गृह्णन् स्वकीयनिर्वाहः स्वीकर्त्तव्यः सदैव च॥ ५०॥
मितव्ययित्वमागृह्णन् योग्यतामत्र वर्धयन्।
सदाशयत्वमार्गेण भरितव्यास्तु दुर्बलाः॥ ५१॥

टीका—परिश्रम एवं मनोयोग का प्रत्यक्ष फल धन है। नीतिपूर्वक कमाया और औसत देशवासी के स्तर का निर्वाह अपनाते हुए बचत की योग्यता को बढ़ाने, सदाशयता को अपनाने एवं असमर्थों की सहायता करने में लगाना चाहिए॥ ४९-५१॥

धनार्जने यथा बुद्धेरपेक्षा व्ययकर्मणि।
नैकधोत्पद्यते भूयो दुष्प्रवृत्तिस्ततः क्रमात्॥ ५२॥
अपव्ययेन मन्येते दुष्प्रवृत्तीरनेकधा।
क्रीणंति चात्मनोऽन्येषामहितं कुर्वते भृशम्॥ ५३॥

टीका—अपव्यय एवं अनावश्यक संग्रहसे अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं। अपव्यय करने वाले मानो बदले में दुष्प्रवृत्तियाँ खरीदते हैं और उनसे अपना तथा दूसरों का असीम अहित करते हैं॥ ५२-५३॥

धनार्जने यथा बुद्धेरपेक्षा व्ययकर्मणि।
ततोऽधिकैव सापेक्ष्या तत्रौचित्यस्य निश्चये॥ ५४॥

टीका—धन कमाने में जितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता पड़ती है, उससे अनेक गुनी व्यय के औचित्य का निर्धारण करते समय लगनी चाहिए॥ ५४॥

उपेक्षानार्जने कार्या न चानीतिर्व्यये तथा।
समान्यता साधुता सत्परिणामान् विचितयेत्॥ ५५॥
अन्यथा घातका सिद्धयत्यलं संपन्नता तु सा।
दारिद्र्यापेक्षया नूनं समाजस्तेन दूष्यते॥ ५६॥

टीका—कमाने में न उपेक्षा की जाए, न अनीति बरती जाए। खरच करने में सादगी, सज्जनता एवं सत्परिणामों की जाँच पड़ताल रखी जाए। अन्यथा संपन्नता-दरिद्रता से भी अधिक घातक सिद्ध होती है और इससे समाज में दूषित परंपराएँ पनपती हैं॥ ५५-५६॥

शृंगी उवाच—

महाभाग यथाप्रोक्तं भवता तच्चतुष्टयम्।
असंयमस्य रूपं यत्तन्निवर्तेत चेत्तदा॥ ५७॥
आराधना जीवनस्य देवताया समग्रताम्।
गच्छत्यभीष्टसिद्धिः किं ततः प्राप्नोति मानवः॥ ५८॥
अतोऽतिरिक्तं वा किंचित्कर्तव्यमवशिष्यते।
तन्नः शुश्रूषमाणानां भवानर्हति शंसितुम्॥ ५९॥

टीका—शृंगी ऋषि ने फिर पूछा—हे महाभाग ! क्यों आपके द्वारा बताए गए चार प्रकार के असंयम रुक जाने से देवता की आराधना समग्र हो जाएगी और उससे अभीष्ट फल मिलने लगेगा या इसके अतिरिक्त कुछ और भी करना होगा ? यह आप हम सुनने को उत्सुक व्यक्तियों को बताएँ॥ ५७-५९॥

पिप्पलाद उवाच—

अयं त्वपव्ययस्यास्ति निरोधः केवलं यतः।
उपलब्धसंपदागर्ते पतेन्नापव्ययात्मके ॥ ६० ॥
विनाशकारिणो नैव परिणामान् समुत्सृजेत्।
उपयोगोऽर्जितस्यापि महत्त्वं सत्सुयोजनम् ॥ ६१ ॥
सामर्थ्यपरिणामाँस्ताँस्ततः श्रेयोविधायकान्।
उत्पादयति चेदस्तव्यस्ततायाः सुरक्षितम् ॥ ६२ ॥
अनुपयुक्ततायाश्च यदि तद्रक्षितं भवेत्।
प्रयोजनेषु सत्सूपयुज्येत सृजकेषु चेत् ॥ ६३ ॥

टीका—महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा—"भद्र! यह तो अपव्यय की रोकथाम भर कही गई है, ताकि उपलब्ध संपदा अपव्यय के गर्त में गिरकर विनाशकारी परिणाम उत्पन्न न करे।" महत्त्वपूर्ण कार्य तो इस बचत के सदुपयोग और सुनियोजन का है। सामर्थ्य तभी श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न करती है, जब उसे अस्त-व्यस्तता एवं अनुपयुक्तता से बचाकर सृजनात्मक सत्प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त किया जाए॥ ६०-६३ ॥

जीवनं त्वथ कार्यं च पूरकं तु परस्परम्।
दृष्ट्वा कार्यस्तरं मेयं साफल्यं जीवनस्य हि॥ ६४ ॥
श्रममात्रं न पर्याप्तं तं तु चौराश्चगर्दभाः।
अपि कुर्वंत्यथोच्चैस्तु सदुद्देश्यैर्हि यान्यहो ॥ ६५ ॥
कर्त्तव्यानि निबद्धानि तेषामेवानुपालनम्।
कर्मयोग इति प्रोक्तोः येन विश्वंभरो भवेत् ॥ ६६ ॥

टीका—जीवन और कार्य एकदूसरे के पूरक हैं। कार्य के स्तर को देखकर ही जीवन की सफलता आँकी जाती है। मात्र श्रम पर्याप्त

नहीं, वह तो गधे और चोर भी करते हैं। उच्च उद्देश्यों से जुड़े हुए कर्त्तव्यपालन का दूसरा नाम कर्मयोग है, जिससे मानव विश्वंभर कहलाता है ॥ ६४-६६ ॥

सदुद्देश्य-सुपूर्त्यर्थं योगसाधनवत् सदा।
कर्मकर्त्तव्यमत्रास्ति नहि चेत्सफलस्ततः ॥ ६७ ॥
सदुद्देश्य-सुपूर्णं यत्तद्धि कर्त्तव्यपालनम्।
कुर्वन्नरः सुसन्तोषं लभते चात्मगौरवम् ॥ ६८ ॥
प्रयोजनेषु साफल्यं दूषितेषु लभेत चेत्।
तथापि सहते लोकभर्त्सनामात्मताडनाम् ॥ ६९ ॥

टीका—कर्म को सदुद्देश्यों की पूर्ति के लिए योग-साधना की तरह किया जाना चाहिए। असफल रहने पर भी सदुद्देश्यपूर्ण कर्त्तव्यपालन से संतोष और गौरव मिलता है; जबकि दुष्ट प्रयोजनों में सफलता मिलने पर भी आत्मप्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहनी पड़ती है ॥ ६७-६९ ॥

तात ! मानव आबद्धो दायित्वैर्बहुभिर्यथा।
शारीरं स्वास्थ्यमेतत्तन्मनः सन्तुलनं तथा ॥ ७० ॥
परिवार सुसंस्कारित्वं समाजस्य तत्तथा।
प्रतिदानं सुरक्षा च शालीनत्वस्थ संस्कृतेः ॥ ७१ ॥
दायित्वैर्बहुभिर्बद्ध एभिर्मानव एष तु।
निर्वाह एषां कर्त्तव्यपालनं परिकीर्तितम् ॥ ७२ ॥
पारायण्यं तु कर्त्तव्यस्यास्ति धार्मिकता ध्रुवम्।
एतत्तु धर्मवेतणां परिभाषितमुत्तमम् ॥ ७३ ॥

टीका—हे तात ! मनुष्य अनेक उत्तरदायित्वों से बँधा है। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक संतुलन परिवार की सुसंस्कारिता, समाज

का ऋण चुकाना, संस्कृति और शालीनता की सुरक्षा जैसे अनेक जिम्मेदारियों से मनुष्य बँधा है। इनके निर्वाह को कर्त्तव्यपालन कहते हैं। कर्त्तव्यपरायणता ही धार्मिकता है। यही धार्मिकता की धर्मवेत्ताओं द्वारा की गई उत्तम परिभाषा है॥ ७०-७३॥

कर्ममात्रं श्रमो नास्ति तेनोच्चैस्तरकस्य हि।
मनोयोगस्य भाव्यं च समावेशेन तद्गता॥ ७४॥
उत्कृष्टता तु कार्यस्य कृते तु स्वाभिमानिनः।
गर्वस्य गौरवस्यापि विषय इति बोध्यताम्॥ ७५॥
उपेक्षयोन्मनस्केन कृतं कार्यं निरर्थकम्।
भवत्येव तथा कर्तुरपकीर्तिकरं च तत्॥ ७६॥
कर्त्तव्यं यदमुष्मिंश्चेत्समावेशो द्वयोरपि।
एकाग्रताभिरुच्योस्तत्कर्मेतीशार्चनास्तरम्॥ ७७॥

टीका—कर्ममात्र श्रम नहीं, उसके साथ उच्चस्तरीय मनोयोग का तन्मय समावेश होना चाहिए। कार्य की उत्कृष्टता हर स्वाभिमानी के लिए गर्व-गौरव का विषय है, यह समझ लो। उपेक्षापूर्वक अन्यमनस्क होकर किया गया काम निरर्थक ही नहीं जाता, कर्त्ता को बदनाम भी करता है। जो भी किया जाए उसमें पूरी अभिरुचि और एकाग्रता का समावेश हो तभी वह उस स्तर का कार्य कहा जा सकेगा, जिसे ईश्वरपूजा के समतुल्य माना जाता है॥ ७४॥ ७७॥

ध्वंसःसरल एनं च लघुरग्निकणोऽपि सः।
ग्लपितं कीलकं चापि कर्तुं तत्प्रभवेदलम्॥ ७८॥
सृजनात्मककार्येषु गौरवं परिकीर्तितम्।
चिन्तनं मानवस्याथ प्रयासः सृजकेषु हि॥ ७९॥
प्रयोजनेषु निरतः सदा स्याज्जीवनस्य तु।
गरिम्णोऽनुमितिस्तत्र निकषोपमिते भवेत्॥ ८०॥

किं स्तरं कियदेतच्च कार्यं तु सृजनात्मकम्।
सम्पन्नं प्रतिभा या तु क्रियाकौशलजा तथा॥ ८१॥
प्रखरता द्वयोरत्र प्रशंसाऽस्मिंस्तु वर्तते।
सत्प्रवृत्ति-विवृद्धौ तु ताभ्यामुपकृतं न वा॥ ८२॥

टीका—ध्वंस सरल है। उसे छोटी चिनगारी एवं सड़ी कील भी कर सकती है। गौरव सृजनात्मक कार्यों में है। मनुष्य का चिंतन और प्रयास सृजनात्मक प्रयोजनों में ही निरत रहना चाहिए। जीवन की गरिमा इस कसौटी पर आँकी जाती है कि उसमें किस स्तर का कितना सृजनात्मक कार्य सफल हुआ। क्रिया-कौशल की जो भी प्रतिभा प्रखरता है, उसकी प्रशंसा इस बात में है कि उसके द्वारा सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन में सहायता मिली या नहीं॥ ७८-८२॥

प्रतिभा या रताध्वंसे तस्यास्तु तुलना विधौ।
प्रशस्ता कथिताविज्ञैर्मूर्खता मंदबुद्धिजा॥ ८३॥
यतोऽनया न कस्यापकार आचरितः क्वचित्।
सृजितं किंचिदेवाथ संशोधितमुतापि च॥ ८४॥
पुरातन कुसंस्काराभ्यासान्निरसितुं नवैः।
उत्साहैः साहसैश्चापि युतं साधुप्रयोजनम्॥ ८५॥
क्रियाकलापकेष्वेव दैनिकेषु सुमीलयेत्।
भूयो भूयोऽभिवर्द्धतीः प्रवृत्तीः पशुजास्तथा॥ ८६॥
निरसितुं श्रमस्तूग्रः स्वीकर्त्तव्यो भवेत्तु ताः।
आत्मनाऽऽत्मनि संघर्ष अयमित्यभिमन्यताम्॥ ८७॥
सर्वैरेवार्जुनस्येयं ग्राह्या सद्भूमिका सदा।
महाभारतसंग्रामे कर्मक्षेत्रेऽत्र मानवैः॥ ८८॥

टीका—ध्वंसरत प्रतिभा की तुलना में विज्ञजनों के मतानुसार मंदबुद्धि मूर्खता अच्छी, जिसने किसी का बिगाड़ा नहीं, कुछ-न-

कुछ बनाया-सुधारा ही। पुराने कुसंस्कारी अभ्यासों को निरस्त करने के लिए नए उत्साह, नए साहस पूर्वक सत्प्रयोजनों को दैनिक क्रिया-कलाप में सम्मिलित करना पड़ता है और बार-बार उभरने वाली पशुप्रवृत्तियों को निरस्त करने के लिए कड़ा रुख अपनाना पड़ता है। यह अपने आप से जूझना है ऐसा जान लो। अर्जुन की भूमिका इस महाभारत में हर कर्मयोगी को निभानी पड़ती है॥ ८३-८८॥

आरण्यकस्य सत्रस्य समाधानं तृतीयकम्।
सर्वेभ्योऽरोचतालं तद्देवं च जीवनं प्रति ॥८९॥
श्रद्धोद्गता च सकंल्पः श्रोतृणां हृदये ततः।
समुत्पन्नः जीवनं तु परमं दैवमित्यहो ॥९०॥
मत्वा परिष्कृतं पूर्णं प्रसन्नं कर्मशक्तितः।
प्रसंग ईदृशोऽयं तु ज्ञातुं तत्राऽधिकाधिकम्॥ ९१॥
औत्सुक्यं हि महर्षीणां तीव्रतामभजत्ततः।
श्वोऽधिकं ज्ञास्यते साशाः कालेऽयुः सौत्रिकाज्ञया॥ ९२॥

टीका—आरण्यक सत्र का तीसरा समाधान सभी को बहुत रुचा। जीवन देवता के प्रति भी श्रोताओं में श्रद्धा उमंगी और संकल्प उभरा कि जीवन को परमदेव मानकर उसे प्रसन्न, परिष्कृत करने में कुछ कमी न रखी जाएगी। प्रसंग ऐसा था, जिसे अधिकाधिक जानने के लिए सम्मिलित ऋषियों की उत्सुकता अधिकाधिक प्रचंड होती जा रही थी। कल और अधिक सुनने को मिलेगा इस आशा के साथ नियत समय पर सभी सूत्र-संचालक की आज्ञानुसार विसर्जित हो गए॥ ८९-९२॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-संवादे 'संयमशीलता-कर्त्तव्यपरायणता' इति प्रकरणो नाम

॥ चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ अथ पंचमोऽध्यायः ॥

उदार-भक्तिभावना प्रकरण

चतुर्थे दिवसे तत्र संगता ऋषयः पुनः।
आरण्यकस्य सत्रे तु ब्रह्मविद्यात्मकेऽन्वहम्॥ १॥
ऋषयः पंक्तिबद्धास्ते पिप्पलादस्य पूर्ववत्।
तत्त्वावधाने तत्त्वस्य विवेचनमभूत्क्रमात् ॥ २॥
सूक्ष्मबुद्धिबलश्चाद्य तार्किकः प्रथमासने।
उद्दालकः स्थितो यस्यौत्सुक्यमासीन्महत्तमम्॥ ३॥

टीका—चौथे दिन आरण्यक के ब्रह्मविद्या सत्र में पहले की तरह फिर ऋषिगण एकत्र हुए, पंक्तिबद्ध बैठे और महर्षि पिप्पलाद के तत्त्वावधान में तत्त्व विवेचन का प्रवाहक्रम चल पड़ा। आज सूक्ष्मबुद्धि के धनी, तर्क प्रवीण उद्दालक अग्रिम पंक्ति में बैठे। उन्हें उत्सुकता अधिक थी॥ १-३॥

उद्दालक उवाच—

समयोपयोगे यः प्रोक्तो महाभागाऽत्र कर्मणा।
तत्रैको देव! संदेहः सर्वेषां समुदेति यत्॥ ४॥
समयक्षेपवल्लाभप्राप्तिस्तु तत्समन्वयात् ।
किं भविष्यथैतावन्मात्रेणात्मिक प्रोन्नतेः ॥ ५॥
कृते त्वावश्यकः सेत्स्यत्यात्मनो विस्तरः कथम्।
सीमाबंधनमात्रं तु नियतेः कर्म भाग्यवत्॥ ६॥

टीका—उद्दालक पूछने लगे—हे महाभाग! समय का सदुपयोग कर्म के माध्यम से होने की विवेचना में एक संदेह उठता है कि उस समन्वय से मात्र समयक्षेप जितना ही लाभ मिलकर तो नहीं रह

जाएगा? उतने भर से आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक आत्मविस्तार का प्रयोजन कैसे सधेगा? हे महाभाग ! कर्म तो नियति का मर्यादा बंधनमात्र है ॥ ४-६ ॥

शृंखलायां तु तस्यामाबद्धा हेतुना सदा।
अस्तव्यस्ततायास्तदनौचित्यं निरुध्यते ॥ ७ ॥
क्रमप्राप्तानि दायित्वान्युचितं वोढुमेव तु।
संभवेतुस्तथा तस्यां सीमायां ये स्थिताः प्रभोः ॥ ८ ॥
तरंगाः कथमापूर्तिस्तेषां कर्तुं तु संभवेत्।
आत्मानं भक्तिभावेन विदधात्यनुप्राणितम् ॥ ९ ॥
तदमृतं कथं पातुं शक्येतेति सविस्तरम्।
सर्वसाधारणस्यालं कल्याणं येन संभवेत् ॥ १० ॥

टीका—उस शृंखला में आबद्ध रहने से अस्त-व्यस्तता का अनौचित्य रुकता है और लदे हुए उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार सहन कर सकना बन पड़ता है। उतनी सीमा में रहने वाले पुण्य-परमार्थ की उन उमंगों की आपूर्ति कैसे कर सकेंगे, जो आत्मा को भक्ति भावना से अनुप्राणित करती है। उस अमृत का रसास्वादन कैसे किया जाए? यह विस्तार से बताएँ, जिससे सर्वसाधारण का कल्याण हो सके ॥ ७-१० ॥

कर्मणः समयस्यापि कुर्वंतस्ते समन्वयम्।
महत्त्वाकांक्षिणो मोहग्रस्ता दृश्यंत एव हि ॥ ११ ॥
श्रमशीला अनेके च प्रयासपरितत्पराः।
प्राप्यंते भिन्नमेतन्न संति ते कर्मयोगिनः ॥ १२ ॥
पुरुषार्थिनस्तु प्रोच्यंते संपन्नाः सफला अपि।
प्राप्यंते कृतयोगास्ते नैवजीवनसंपदाम् ॥ १३ ॥

मीयते समयस्याथ कर्मणस्तु समन्वयात्।
अतिरिक्तं किमप्यास्ते तथ्यं गुप्तं सदैव तु ॥ १४॥
यद्येवं कृपयोद्‌बोधय रहस्यं नः कृपानिधे !
मूर्द्धन्यस्तत्त्ववेतणां सत्रसूत्रस्यचालकम् ॥ १५ ॥
ब्रह्मज्ञः पिप्पलादस्तां जिज्ञासां ध्यानपूर्वकम्।
श्रुत्वा प्रसन्नतां यातो विपुलां संजगाद च ॥ १६ ॥

टीका—समय और कर्म का समन्वय करते तो मोहग्रस्त महत्त्वाकांक्षी भी देखे जाते हैं। कर्मयोगी न सही, श्रमशील और प्रयास तत्पर तो अनेकों पाए जाते हैं, उन्हें पुरुषार्थी तो कहा जाता है, किंतु वे जीवन-संपदा को कृतकृत्य करने वाले कहाँ होते हैं ? लगता है समय और कर्म के समन्वय के अतिरिक्त भी कोई तथ्य छिपा रह गया है। यदि ऐसा हो तो कृपया उस रहस्य का उद्‌घाटन कीजिए। तत्त्वेताओं में मूर्द्धन्य इस सत्र के सूत्र-संचालक ब्रह्मवेत्ता पिप्पलाद ने जिज्ञासा को ध्यानपूर्वक सुना, बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥ ११-१६ ॥

पिप्पलाद उवाच—

अहं क्रमिकचर्चायां तस्मिन्नेव प्रसंगके।
आसं चर्चितुकामस्तु साधु तत्स्मारितं त्वया ॥ १७ ॥
अधुना तत्प्रसंगे तु वक्तुमुत्साह एष मे।
वृद्धिंगतो भवद्‌भिश्च श्राव्यमग्रे सचित्तकैः ॥ १८ ॥

टीका—महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा—क्रमिक चर्चा में उस प्रसंग पर चर्चा करने ही वाला था, किंतु आपने उसका स्मरण दिलाकर अच्छा ही किया। अब उस संदर्भ में कुछ अधिक कहने का मेरा उत्साह बढ़ा है। आगे की बात आप सब ध्यानपूर्वक सुनें ॥ १७-१८ ॥

त्रिधात्मिकायां विश्वस्य व्यवस्थायामृषीश्वराः।
प्रकृतीश्वरजीवानामिव क्षेत्रे चितेरपि ॥ १९ ॥

तिस्रो निर्धारणाः संति प्रगतेस्तु क्रमस्य ताः।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नाम्नोच्यंते मनीषिभिः॥ २०॥
छात्राध्ययनसंबंधिविषयाणामिव क्रमात्।
एकमेकं समादाय योजयेत् परिवर्धयेत्॥ २१॥

टीका—हे ऋषियो ! इस त्रिधा व्यवस्था में ईश्वर, जीव, प्रकृति की तरह चेतना-क्षेत्र के भी प्रगतिक्रम की तीन निर्धारणाएँ हैं। विद्वान लोग एक को ज्ञान, दूसरे को कर्म, तीसरे को भक्ति कहते हैं। इन्हें छात्रों के अध्ययन विषयों की तरह क्रमशः एक-एक करके जोड़ना बढ़ाना पड़ता है॥ १९-२१॥

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य विकासक्रम पद्धतौ।
सर्वप्रथममध्यात्मज्ञानस्यास्ति हि भूमिका॥ २२॥
सा न चेन्मानवो जाड्यभवबंधनपाशितः।
तिरश्चामिव संबद्धः शिश्नोदरपरायणः॥ २३॥
वासनायाश्च तृष्णाया अतिरिक्तमथापि च।
अहंताया न ज्ञातुं स प्रभवेत् स्थितिरीदृशी॥ २४॥
आत्मज्ञानमिदं येन स्वरूपं मानवः स्वकम्।
कर्त्तव्यं च भविष्यच्च दृष्टुं पारयति ध्रुवम्॥ २५॥
आधारेण स एतेन सुषुप्तिं तां विहाय हि।
जागृतौ विशति प्रोक्तः देवजन्मात्मबोधकः॥ २६॥

टीका—अध्यात्म-क्षेत्र के विकासक्रम के मार्ग में सर्वप्रथम आत्मज्ञान की भूमिका है। वह न हो तो मनुष्य जड़ता के भवबंधनों में ही बँधा रहेगा। पाशबद्ध तिर्यक् योनियों की तरह शिश्नोदर परायण ही बना रहेगा। वासना, तृष्णा और अहंता के अतिरिक्त और कुछ सूझेगा ही नहीं तथा यही स्थिति बनी रहेगी। वह आत्मज्ञान ही है,

जिसके कारण मनुष्य को अपना स्वरूप, कर्त्तव्य और भविष्य दृष्टिगोचर होता है। उसी आधार पर वह सुषुप्ति छोड़कर जाग्रति में प्रवेश करता है। आत्मबोध को ही देव जन्म कहा गया है ॥ २२-२६ ॥

आत्मप्रेरणयोदेति कृपया च गुरोरयम्।
यो हि जीवन-क्षेत्रस्य प्रथमा भूतिरुच्यते ॥ २७ ॥
इमं ये प्राप्नुवन्त्यभ्युदयद्वारमनावृतम् ।
कुर्वन्त्यग्रे सरंत्येते मुख्यलक्ष्य दिशि ध्रुवम् ॥ २८ ॥

टीका—यह आत्मप्रेरणा और आत्मबोध गुरुकृपा से होता है। इसे जीवन-क्षेत्र की प्रथम विभूति कहा गया है। जो इसे पाते हैं, अभ्युदय का द्वार खोलते और परमलक्ष्य की दिशा में अग्रसर होते हैं ॥ २७-२८ ॥

आत्मप्रगतिसोपानं द्वितीयं कर्म चोच्यते।
कर्मार्थात् कर्मयोगोऽयं कर्मयोगश्च सोऽर्थतः ॥ २९ ॥
मनुष्यतापक्षधरकर्त्तव्यानीति मन्यताम् ।
अथाप्युत्तरदायित्वपरिपालनमेव च ॥ ३० ॥
कर्मनिष्ठा सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैः समागताः।
दुष्प्रवृत्तीर्नियच्छंती सत्प्रवृत्तीः सुसंगताः ॥ ३१ ॥
कुर्वंती प्रखरं मर्त्यं प्रामाणिकमथापि च।
पुरुषार्थं दिशाबद्धं कुर्वंतः कर्मयोगिनः ॥ ३२ ॥
पराक्रमं समाश्रित्य तं ततस्ते यशस्विनः।
भवंति विविधास्ते सफलतां प्राप्नुवंति च ॥ ३३ ॥

टीका—आत्मिक प्रगति का दूसरा सोपान है—कर्म। कर्म अर्थात कर्मयोग, कर्मयोग अर्थात मानवता के पक्षधर कर्त्तव्य, उत्तरदायित्वों

का परिपालन कर्मनिष्ठा, संचित कुसंस्कारों के कारण उत्पन्न होने वाली दुष्प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करती और सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव में सम्मिलित करके मनुष्य को प्रामाणिक एवं प्रखर बनाती है। कर्मयोगी अपने पुरुषार्थ को दिशाबद्ध करते हैं, उस पराक्रम के आधार पर अनेकानेक सफलताएँ पाते और यशस्वी बनते हैं॥ २९-३३ ॥

वर्द्धते चेद्विकासस्य क्रमो ज्ञानेन कर्म च।
युज्यते प्रौढताऽऽयाति ततोभक्तिर्विजृंभते ॥ ३४ ॥
क्रीडंत्येवार्भकास्ते च क्रीडंत्यपि किशोरकाः।
प्रौढाः क्रीडंति कुर्वंति पौरुषोपार्जनान्यपि॥ ३५ ॥
ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेणी सेदृशं मता।
गंगायमुनायोर्योगे यथा शुभ्रा सरस्वती॥ ३६ ॥
ज्ञानस्य कर्मणश्चापि संयुक्तोऽभ्यास एष चेत्।
दिशां शुद्धां क्रामतीत्थं तत्र भक्तेर्नवोदयः॥ ३७॥
आत्मनस्तु विकासस्य प्रौढतायां तु कर्मणा।
ज्ञानेन सह भक्तेः स उदयो नव उच्छलेत्॥ ३८ ॥

टीका—विकासक्रम बढ़ता है तो ज्ञान के साथ कर्म जुड़ता है। प्रौढ़ता आती है तो क्रम के अतिरिक्त भावना की उमंगें भी उभरती हैं। बालक मात्र खेलते हैं, किशोर खेलते और पढ़ते हैं, प्रौढ़ खेलते भी हैं, पढ़ते भी हैं और उपार्जन पुरुषार्थ भी करने लगते हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी ऐसी ही है, जैसे गंगा में यमुना का मिलन और इससे कुछ ही आगे उनके साथ सरस्वती का समन्वय। ज्ञान और कर्म का संयुक्त अभ्यास यदि सही दिशा में चल रहा होगा तो उसमें भक्ति का नया उभार ही होगा। आत्मविकास की प्रौढ़ता में ज्ञान-कर्म के साथ भक्ति का नया उभार उमँगता है॥ ३४-३८ ॥

प्रेमादर्शान् प्रतीत्थं तानुन्नेतुं चाप्यनुन्नतान्।
वर्धमानजनाँश्चापि प्रोत्साहयितुमञ्जसा॥ ३९॥
सहजा या समुत्कंठा तत्र भक्तेर्मनोरमा।
सुषमा दृश्यते दिव्या विशाला च महामुने॥ ४०॥

टीका—आदर्शों के प्रति प्रेम। पिछड़ों को उठाने की, बढ़ते को बढ़ाने की, सहज उत्कंठा में भक्ति की झाँकी मिलती है, जो दिव्य व विशाल होती है॥ ३९-४०॥

स्वशरीरे कुटुंबे च सीमितं प्रेम प्रोच्यते।
मोहो, व्यापकतां यातो भक्तित्वेन प्रशस्यते॥ ४१॥
उदार सेवारूपेऽथ साधनारूपकेऽपि वा।
उदारा परिणतिस्तस्या स्वत्वं सर्वेषु वर्धते॥ ४२॥
नहि तत्र परः कोऽपि दृश्यते तान् स्वकान्।
सुसंस्कृताँश्च सुखिनः कर्तुमाकुलतोचिता॥ ४३॥
भक्तेषु मनुजेष्वेवमाकुलत्वं तु दृश्यते।
ग्रहीतुं विस्मरंतस्ते दातुमेव स्मरंति हि॥ ४४॥

टीका—प्रेम जब शरीर परिवार तक सीमित रहता है तो उसे मोह कहा जाता है, किंतु जब वह व्यापक आत्मीयता के रूप में प्रकट होता है तो भक्ति भावना के रूप में सराहा जाता है। उसकी परिणति उदार सेवा-साधना के रूप में होती है। सभी अपने लगते हैं। कोई विराना नहीं रहता। अपनों को सुखी और सुसंस्कृत बनाने के लिए आकुलता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भक्तजनों में ऐसी ही पारमार्थिक आकुलता पाई जाती है। वे लेने की बात भूल जाते हैं, देना ही देना स्मरण रहता है॥ ४१-४४॥

दातुं सर्वस्य मर्त्यस्य संति स समयः श्रमः।
चिन्तनं कौशलं शौर्यं परामर्शार्हताऽपि च॥ ४५॥
अतिरिक्तमतः स्वस्योपार्जनं सञ्चयस्तथा।
आंशिकस्तु भवत्येव पार्श्वे सर्वस्य निश्चितम्॥ ४६॥

टीका—देने के लिए हर मनुष्य के पास श्रम, समय, चिंतन, कौशल, प्रभाव, परामर्श जैसी ईश्वरप्रदत्त क्षमताएँ अनेकों हैं। इसके अतिरिक्त अपना उपार्जन एवं संचय भी कुछ-न-कुछ अवश्य हर किसी के पास होता है॥ ४५-४६॥

संकीर्णयां तु स्वार्थस्य परतायां नियंत्रणे।
जाते न्यूनतमे तेषां निर्वाहक्रम उच्चलेत्॥ ४७॥
सुरक्षितो निधिः पार्श्वे स इयान् कर्मयोगिनः।
चरितार्थयितुं भक्तेर्भावनां पारमार्थिके॥ ४८॥
प्रयोजने ऽनुदानानि प्रस्तूयाच्छ्लाघ्यकानि हि।
कृपणेषु हि दारिद्र्यं कृत स्थानं तु दृश्यते॥ ४९॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाते ही न्यूनतम में उनका निर्वाहक्रम चल जाता है। कर्मयोगी के पास इतनी बचत पूँजी रहती है, कि वह भक्तिभावना को चरितार्थ करने के लिए परमार्थ प्रयोजनों के लिए सराहनीय अनुदान प्रस्तुत कर सकें। दरिद्रता तो मात्र कृपणों पर छाई रहती है॥ ४७-४९॥

निराकारः प्रभुश्चित्ते नरस्यावतरत्ययम्।
तस्यानुभूतिरुच्चस्य स्तरस्यैव तु प्रेमके॥ ५०॥
भवति ज्ञायते या च भक्तिरूपेण मानवैः।
आदर्शाबद्धमात्मीयत्वं हि भक्तेस्तु भावना॥ ५१॥

तस्या अभ्यास एकांत ईश्वरायात्मनो मुने।
समर्पणस्य श्रद्धाया उदयाय विधीयते॥ ५२॥
परिपक्वामवस्थां सा श्रयते तु यथा-यथा।
उदारात्मीयतारूपे व्यापके समुदेति च॥ ५३॥

टीका—ईश्वर निराकार है। उसका अवतरण मनुष्य के अंतःकरण में होता है। उसकी अनुभूति उस उच्चस्तरीय प्रेम में होती है, जिसे भक्ति रूप में मनुष्यों द्वारा जाना जाता है। आदर्शों के साथ लिपटी हुई आत्मीयता ही भक्तिभावना है। भक्ति का एकांत अभ्यास ईश्वर को आत्मसमर्पण करने की श्रद्धा उभारने के रूप में किया जाता है। जैसे-जैसे वह परिपक्व होती है, उदार-आत्मीयता के रूप में प्रकट होती और व्यापक बनती है॥ ५०-५३॥

प्रेमैव परमेशोऽस्ति स आनंदस्वरूपधृक्।
जडो वा चेतना वाऽपि प्रियतां याति प्रेमतः॥ ५४॥
ईश्वरं प्रति प्रेम्णैति श्रद्धाऽऽदर्शान् प्रति ध्रुवम्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु दृष्टिकोणो भविष्यति॥ ५५॥
वसुधैव कुटुंबं च भावनायाः क्रियान्वितिः।
कर्तारस्ते क्रियालापाश्चलिष्यंत्यञ्जसैव तु॥ ५६॥

टीका—प्रेम ही परमेश्वर है। वह आनंदस्वरूप है। जिस जड़-चेतन से प्रेम करते हैं, वही प्रिय लगने लगता है। ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ेगा तो आदर्शों के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी। '**आत्मवत् सर्वभूतेषु**' का दृष्टिकोण उभरेगा और '**वसुधैव कुटुंबकम्**' की भावना को क्रियान्वित करने वाले क्रिया-कलाप सहज ही चल पड़ेंगे॥ ५४-५६॥

बालानां भक्षणे प्रीतिस्तथाऽऽदाने परं तु ते।
प्रौढा विभज्य काले च क्षुधार्तास्ते ददत्यपि॥ ५७॥

एवंविधा उदारानुदानिनो ये वरं तु ते।
अभावग्रस्ता दृश्यंते रसाग्राहिविलासिनाम्॥ ५८॥
आत्मतोषस्य लोकस्य मानस्याऽनुग्रहस्य च।
दैवस्य त्रिविधो लाभः प्राप्यते तैस्तु यः सदा॥ ५९॥
स समस्तस्य विश्वस्य वैभवादतिरिच्यते।
आनंददायकत्वेनामृतं लब्धं तु तैर्नरैः॥ ६०॥

टीका—बालकों को खाने और पीने में रुचि होती है, किंतु प्रौढ़ परिपक्व मिल-बाँटकर ही नहीं खाते, अवसर आने पर स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को खिलाते हैं। ऐसे उदार अनुदानी रस लेने वाले विलासियों की तुलना में अभावग्रस्त तो दीखते हैं, पर उन्हें आत्मसंतोष, लोक-सम्मान एवं दैवी अनुग्रह का जो त्रिविध लाभ सदा मिलता है, उसे संसार भर के समस्त वैभव से भी अधिक आनंददायक पाया जाता है, मानो उन्होंने अमृत पा लिया है॥ ५७-६०॥

उदारमनसां भक्त-जनानां जीवनं मुने।
विप्राऽपरिग्रहित्वेन स्वभावेन युतं भवेत्॥ ६१॥
परायणं परार्थे च साधूनामिव जायते।
न भवंति धनाध्यक्षा यद्यप्येते तथापि तु॥ ६२॥
आत्मिकानां विभूतीनां निधींस्ते प्राप्नुवंत्यलम्।
कुबेरसंपदा येभ्यो न्यूना मन्येत निश्चितम्॥ ६३॥

टीका—उदारमना भक्तजनों का जीवन ब्राह्मणों जैसा अपरिग्रही और साधुओं जैसा परमार्थपरायण रहता है। अस्तु, वे धनाध्यक्ष तो नहीं बनते, पर आत्मिक विभूतियों का इतना भंडार उन्हें उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना में कुवेर की संपदा भी स्वल्प मानी जा सके॥ ६१-६३॥

भक्तेरुदारभावस्य जायते त्वरुणोदयः।
सहकारिप्रवृत्तौ तत्प्रयासोऽत्र विधीयताम्॥ ६४॥
वासः परस्परापेक्षी विभाजापेक्षि भोजनम्।
स्थितिः प्रमोदपूर्णा च ह्यस्या एवोपलभ्यते॥ ६५॥
सहयोगेन पंथाः स प्रशस्तः प्रगतेर्मतः।
संघबद्धत्वमेवेदं सामर्थ्यं परमं स्मृतम्॥ ६६॥

टीका—भक्ति की उदार भावना का अरुणोदय सहकारिता की प्रवृत्ति में होता है, अतः इस दिशा में प्रयास करना चाहिए। हिल-मिलकर रहने, मिल-बाँटकर खाने से ही हँसती-हँसाती परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं। सहयोग से ही प्रगति का पथप्रशस्त होता है। संघबद्धता सबसे बड़ी सामर्थ्य है॥ ६४-६६॥

संकीर्णस्वार्थभावं ये नरा गृह्णंति सर्वदा।
दिव्याभ्यो वञ्चिता नूनमनुभूतिभिरेव ते॥ ६७॥
भक्तिमात्राश्रयेणेमे लाभाः प्राप्यंत एकदा।
आत्मकल्याणमीशाप्तिर्विश्वकल्याणमेव च॥ ६८॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता को अपनाने वाले इस दिव्य अनुभूति से वंचित ही रह जाते हैं। भक्ति ही एकमात्र अवलंबन है, जिसके सहारे आत्मकल्याण, विश्वकल्याण और ईश्वरमिलन के त्रिविध परम लाभ एक साथ मिलते हैं॥ ६७-६८॥

आत्मीयं प्रेम यत्तस्य भावनोद्भरितं मनः।
प्रत्यक्षं स्वर्ग आनंदानुभूतिं तु रसंति ये॥ ६९॥
भवंति कृतकृत्यास्ते प्राप्तं प्राप्तव्यमेव तैः।
एकार्थसुखसौविध्यभावः संकीर्ण स्वार्थजः॥ ७०॥

स नाशयति नूनं तं भक्तिभावं तथा च ये।
अपेक्षया परेषां तु विलासविभवान्विताः ॥ ७१ ॥
भवितुं मनुजा यांति महत्त्वाकांक्षितां हि ते।
जायंते निष्ठुरा नूनमाततायिन एव च ॥ ७२ ॥

टीका—आत्मीयता की प्रेमभावना से लबालब भरा हुआ, अंतःकरण प्रत्यक्ष स्वर्ग है। उस आनंदभरी अनुभूति का जो रसास्वादन करते हैं, कृतकृत्य बन जाते हैं, उन्हें मानों अपना संपूर्ण प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है। एकाकी सुख-सुविधा की बात सोचने वाली संकीर्ण स्वार्थपरता, भक्तिभावना को नष्ट करती है। दूसरों की तुलना में जो अधिक वैभववान, विलासी बनने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं, वे मनुष्य निष्ठुर एवं आततायी ही बन सकते हैं ॥ ६९-७२ ॥

अहम्मन्यतया सार्धमुदारा भक्तिभावना।
स्थातुं नैव समर्थास्ति द्वयोरेको विशिष्यते ॥ ७३ ॥
जीवनं सरलमुच्चविचारा इति भावनाम्।
भक्ता भजंतिस्वल्पं च भुञ्जते भोजयंत्यलम् ॥ ७४ ॥
याचंते स्वल्पमेवालं प्रयच्छंति च हर्षिताः।
अल्पं कामयमानास्ते दातुकामाभवंत्यलम् ॥ ७५ ॥

टीका—अहंमन्यता और उदार-भक्तिभावना का एक साथ रह सकना शक्य नहीं। दोनों में से एक को प्रमुखता देनी होती है। इसलिए भक्तजन 'सादा जीवन उच्च विचार' का सिद्धांत अपनाते हैं। खाते कम और खिलाते अधिक हैं, माँगते कम और देते अधिक हैं, चाहते कम और देने की इच्छा अधिक रखते हैं, इसी में प्रसन्न रहते हैं ॥ ७३-७५ ॥

भक्तिर्भावुकता नैव तत्रोच्चादर्शता मता।
सरलं ये तु जीवंति तेषामेषा तु संभवेत् ॥ ७६ ॥

अन्ये तात्कालिकान् भावावेशान् भक्तिं वदंति तु।
भ्रमंति ते भ्रमावर्ते पराँश्च भ्रामयंत्यपि ॥७७॥

टीका—भक्ति, भावुकता नहीं है। उसके पीछे उच्च आदर्श जुड़े रहते हैं। सादा जीवन जीने वालों के लिए भक्तिभावना जैसी उच्च विचारधारा अपना सकना संभव है। दूसरे लोग तो सस्ते भावावेशों को ही 'भक्ति' कहते हैं और भ्रम में पड़े रहते हैं तथा औरों को भी भ्रमित कर देते हैं॥ ७६-७७॥

संकीर्णा स्वार्थपरतैव विद्यते भवबंधनम्।
लोभमोहावहंकार इति तस्यास्त्रयः सुताः॥ ७८॥
इदं कुटुंबं यत्रापि वासमाधास्यति ध्रुवम्।
तत्रेर्ष्याकलहद्वेषपातदुर्व्यसनानि च ॥ ७९॥
प्रसंगात्प्रत्यहं नूनमुदेष्यंति तथेदृशाः।
आत्मप्रताडनां लोकभर्त्सनां प्राप्नुवंति च॥ ८०॥

टीका—संकीर्ण स्वार्थपरता ही भवबंधन है। लोभ-मोह और अहंकार उसी के तीन पुत्र हैं। यह परिवार जहाँ भी बसेगा वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, दुर्व्यसन और पतन के प्रसंग आएदिन उभरते रहेंगे। ऐसे लोग आत्मप्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहते रहते हैं॥ ७८-८०॥

पूजयाऽपि प्रसीदंति तेषु देवा न किंतु ते।
दुरात्मनां मनोभावं ज्ञात्वा क्रुध्यंति नित्यशः॥ ८१॥
सन्तापं शमयत्येनं पूर्णतो भक्तिभावना।
अतो भक्तिश्च मुक्तिश्च सघने संयुते मते॥ ८२॥
स्वार्थान्धतां नरो यावन्मात्रया यो त्यजत्यसौ।
अनुपातेन तेनैव जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ ८३॥

टीका—पूजा करने पर भी देवता प्रसन्न नहीं होते और इन दुरात्माओं की मन:स्थिति को समझते हुए उन पर कोप ही बरसाते रहते हैं। भक्तिभावना ही इस तपन को पूर्णरूपेण बुझाती है। इसलिए भक्ति और मुक्ति को परस्पर सघन-संयुक्त माना जाता है। जो जिस मात्रा में स्वार्थांधता का परित्याग करेगा, वह उसी अनुपात में जीवन्मुक्त बनता जाएगा॥ ८१-८३॥

ईशप्राप्तेर्भक्तिरेकमवलंबनमस्ति हि।
उदारात्मीयभावानुप्राणिताऽऽदर्शवादिनी॥ ८४॥
सा परायणता या तु परार्था तत्र दृश्यते।
भक्तेः सा भावना सत्या यया दिव्यत्वमाप्यते॥ ८५॥

टीका—ईश्वरप्राप्ति का एकमात्र अवलंबन भक्ति ही है। उदार आत्मीयता से अनुप्राणित आदर्शवादी, परमार्थपरायणता में ही सच्ची भक्तिभावना के दर्शन होते हैं। जो मनुष्य को दिव्य बनाती है॥ ८४-८५॥

यथा वेला दिनेनेयं रात्रेस्तु मिलनस्य हि।
उषः कालो बुधैः प्रोक्तः प्राणिनो यत्र जाग्रति॥ ८६॥
परात्मनाऽऽत्मनः संगस्यास्ति नूनं तथा त्वयम्।
भक्तिभावोदयो ह्येष प्रमाणमिह गोचरम्॥ ८७॥

टीका—जैसे रात्रि के दिन के साथ मिलने वेला को उषाकाल कहते हैं, जिसमें प्राणिमात्र जग जाते हैं, वैसे ही आत्मा और परमात्मा से मिलन का प्रत्यक्ष प्रमाण भक्तिभावना के उदय में देखा जाता है॥ ८६-८७॥

आदर्शान्प्रति भक्तिः सा भवत्येनां तु व्यक्तिभिः।
देवताभिस्तु काभिश्चिद् योजकात्तु महामुने॥ ८८॥
भिन्नां मोहप्रसंगाच्च मन्यत उच्चसंश्रयाम्।
ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेण्यां तत्र तद्दिने॥ ८९॥

स्नाता जिज्ञासवो जाता: प्रसन्नास्ते मनीषिण: ।
अज्ञायि ब्रह्मविद्याया गुप्तानां रहसामलम् ॥ ९० ॥
लाभोऽसाधारणस्त्वस्मिन् सत्संगे प्राप्यते तु तैः ।
इत्थं सत्रं समाप्तं तच्चतुर्थं ते मनीषिण: ॥ ९१ ॥

टीका—हे मुनीश्वर ! भक्ति आदर्शों के प्रति होती है। उसे किसी व्यक्ति या देवता के साथ जुड़ने वाले मोह प्रसंग से सर्वथा भिन्न एवं उच्चस्तरीय ही माना गया है। ज्ञानकर्म के साथ भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करके उस दिन सभी जिज्ञासु, मनीषी बहुत प्रसन्न हुए। ऐसा लगा मानो ब्रह्मविद्या का असाधारण लाभ इस सुयोग सत्संग में उन्हें उपलब्ध हो रहा है। इस प्रकार चौथा सत्र दिवस समाप्त हुआ ॥ ८८-९१ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्या ऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयो:, श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि संवादे 'उदार-भक्तिभावना' इति प्रकरणो नाम

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

सत्साहस-संघर्ष प्रकरण

आरण्यकस्य सत्रस्य पञ्चमे दिवसे शुभे।
जिज्ञासुः स हि दुर्वासा महर्षिः प्रमुखोऽभवत् ॥ १ ॥
स्थितः सोऽग्रिमपंक्तौ च जिज्ञासां स्वां च व्याहरन् ।
ओजोगंभीरया वाचा पिप्पलादमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

टीका—पाँचवें दिन के आरण्यक सत्र के प्रमुख जिज्ञासु थे— महर्षि दुर्वासा। वे अग्रिम पंक्ति में बैठे और अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए ओजपूर्ण, गंभीर स्वर में पिप्पलाद से बोले ॥ १-२ ॥

दुर्वासा उवाच—

ब्रह्मविद्या प्रवृत्तीनां संवर्धन प्रसंगके।
देव ! यद् भवता प्रोक्तं कृतार्था वयमत्र तु॥ ३॥
तथाप्येकं तु पश्यामो ह्यसमञ्जसमत्र यत् ।
संसारे व्याप्तदुर्भावैः संघर्षः किंविधो भवेत् ॥ ४॥
आसुराक्रमणैरात्मरक्षायै के ह्युपायकाः।
आश्रितव्या इदं चापि कृपयाद्य निगद्यताम्॥ ५॥
स्रष्टुः पवित्रसृष्टौ तु कस्माद्धेतोरवस्थितम्।
अधर्मास्तित्वमेतद् यज्जगत्सर्वं दुनोत्यलम्॥ ६॥

टीका—देव ! आपने ब्रह्मविद्या के सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन प्रसंग पर जो प्रकाश डाला, उससे हम सभी कृतार्थ हुए हैं, फिर भी एक असमंजस बना हुआ है कि इस संसार में सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता से किस प्रकार निपटा जाए? आसुरी आक्रमणों से आत्मरक्षा के लिए किन उपायों का अवलंबन किया जाए? कृपया यह भी बताएँ कि स्रष्टा की पवित्र सृष्टि में अधर्म का अस्तित्व किस कारण बना हुआ है, जो सारे जगत को पीड़ित किए हुए है॥ ३-६॥

दुर्वाससो महर्षेस्तां सहजां प्रकृतिं तथा।
प्रवृत्तिं पिप्पलादस्य कृतः प्रश्नोऽभ्यरोचत॥ ७॥
समयानुकूलं तं प्रश्नं श्रुत्वा च सराह्य च।
सत्रसञ्चालको ऽवादीत्पिप्पलादो हसन्निव॥ ८॥

पिप्पलाद उवाच—

रुचेर्भवत आसक्तेरपि चात्र समर्थनम्।
समाधानं च सम्मानं ब्रह्मविद्याविधौ वरम्॥ ९॥

अनीतेः प्रतिरोधोऽपि नीतिपक्षसमर्थनम्।
एकमास्ते तथाऽस्यापि महत्त्वं विद्यते ध्रुवम्॥ १० ॥

टीका—महर्षि दुर्वासा की सहज प्रकृति और प्रवृत्ति को देखते हुए उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न पिप्पलाद को अच्छा लगा, उस समयानुकूल प्रश्न को सुनकर और सराहना करके सत्र के सूत्र-संचालक पिप्पलाद ने हँसते हुए कहा— आपकी रुचि और रुझान का भी ब्रह्मविद्या में समुचित समाधान, सम्मान और समर्थन है। अनीति का प्रतिरोध नीति समर्थन का एक पक्ष है तथा इसका भी निश्चित महत्त्व है॥ ७-१० ॥

संसारेऽवाञ्छनीयत्वमत एव तु विद्यते।
सहानुभूतिं कुर्यात्तन्न्यायनिष्ठां प्रति सदा॥ ११ ॥
समर्थने च तस्या हि प्रखरं तत्पराक्रमम्।
कर्तुं च प्रेरयेद्रात्रिर्नोचेच्छ्रैष्ठ्यं दिनस्य न॥ १२ ॥
अनस्तित्वमनीतेश्चेन्नीतेः किं गरिमा जनैः।
ज्ञायेताऽधर्मसद्भावे धर्मसंस्थापनोदयः ॥ १३ ॥
यदि रोगा न संत्वेव चिकित्सायास्ततः कथम्।
विज्ञानस्य भवेत्सा तु स्थापना प्रगतिस्तथा॥ १४ ॥
अज्ञानजन्य हानिभ्य आत्मानं रक्षितुं वयम्।
मनीषिणः सदा ज्ञानसाधनां कर्तुमुद्यताः॥ १५ ॥
एवं स्रष्टा हानियुक्तमनावश्यकमप्यदः।
अवाञ्छनीयताऽस्तित्वं स्थापयामास मन्यताम्॥ १६ ॥

टीका—संसार में अवांछनीयता भी इसलिए है कि वह न्यायनिष्ठा के प्रति सहानुभूति उभारे और उसके समर्थन में प्रखर पराक्रम करने

की प्रेरणा दे। यदि रात्रि न हो तो दिन की विशिष्टता ही न रहे। अनीति का अस्तित्व न हो तो नीति की गरिमा लोग कैसे समझेंगे? अधर्म के रहने पर ही धर्म संस्थापना का प्रयास होता है। यदि रोग ही न हों तो चिकित्सा विज्ञान की स्थापना और प्रगति ही कैसे हो? अज्ञान की हानियों से बचने के लिए हम मनीषी लोग ज्ञान की साधना करते हैं। इसी प्रकार स्रष्टा ने अनावश्यक एवं हानिकारक लगते हुए भी संसार में अवांछनीयता का अस्तित्व रखा है ऐसा समझो॥ ११-१६॥

व्यायामभवने ये तु युद्ध्यंते हि परस्परम्।
शूरा वीराश्च जायंते बलिष्ठा नात्र संशयः॥ १७॥
पराक्रमो नरस्यास्ति महत्त्वमहितो गुणः।
उदयः संभवस्तस्य संघर्षेणैव नान्यथा॥ १८॥
एतादृशे त्वनायाते जीवनेऽवसरे नरः।
वञ्चितः प्रतिभायाश्च प्रखरताया अपि त्वलम्॥ १९॥
येन स निष्प्रभं दीनहीनमेव हि जीवति।
जागृतिस्तत्परत्वं च प्रखरता संति सद्गुणाः॥ २०॥
इमे त्रयो गुणा न्यायपक्षमाश्रित्य सर्वथा।
युद्ध्यमाने भजंत्याशु विकासं तु महामुने॥ २१॥

टीका—व्यायामशाला में दैनिक रूप से परस्पर जूझने से ही शूरवीर बलिष्ठ होते हैं, इसमें संदेह नहीं। पराक्रम मनुष्य का महत्त्वपूर्ण गुण है। उसे संघर्ष द्वारा ही उभारा जाता है। ऐसा अवसर न आने पर मनुष्य प्रतिभा और प्रखरता से वंचित रहता है, जिससे वह गया-गुजरा, दीन-हीन जीवन ही जी सकेगा। जागरूकता, तत्परता और प्रखरता—ये तीनों गुण न्याय के समर्थन में अन्याय से जूझने पर ही विकसित होते हैं॥ १७-२१॥

अज्ञानं चाप्यभावश्च श्रेण्यामस्यां निरूपिते।
देवास्त्रयो ज्ञानकर्मौदार्यनामान एव ते॥ २२॥
अज्ञानमथ सोऽभावोऽन्यायश्चैतेत्रयोऽसुराः ।
विद्यंतेऽनादिकालाच्च युद्ध्यंते तु त्रयस्त्रिभिः॥ २३॥
दैवासुरस्तु संग्राम एष एवास्य हे मुने।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे महाभारतकस्य तु॥ २४॥
साधना समरस्यैते संति योद्धार एव ये।
योद्धव्यं तैः सदैवात्र युद्धाद् ये विरमंति च॥ २५॥
भर्त्सनां ते लभंते च मोहग्रस्तो यथार्जुनः ।
वाञ्छन्नपि न वै कश्चिद् संघर्षाद्दूरमाव्रजेत्॥ २६॥

टीका—अज्ञान और अभाव भी इसी श्रेणी में आते हैं। तीन देवता हैं—ज्ञान, कर्म और औदार्य। तीन असुर हैं—अज्ञान, अभाव और अन्याय। इन्हीं के बीच अनादिकाल से संघर्ष चलता आ रहा है। यही देवासुर-संग्राम है। इसी महाभारत के धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में साधन-समर के शूरवीर योद्धा को निरंतर जूझना पड़ता है। जो इससे बचने का प्रयत्न करेगा उसे मोहग्रस्त अर्जुन की तरह भर्त्सना सहनी पड़ेगी। कोई संघर्ष से बचना चाहे तो भी नहीं बच सकता॥ २२-२६॥

मक्षिका मसका यूका मत्कुणा मूषकादयः।
वृश्चिकादय एतेऽस्मान् विवशान् कुर्वते भृशम्॥ २७॥
आत्मरक्षां प्रकर्तुं तान् दूरीकर्तुं महामुने।
आक्रांतृन् साहसं ग्राह्यमित्थं सर्वत्र दृश्यते॥ २८॥
अनौचित्यस्य सहनात्तु स्वमस्तित्वं विपद्यते।
द्वितीया हानिरेषा स्यादाक्रांतारस्तु निर्भयाः ॥ २९॥

स्वस्यास्तु दुष्टतायास्ते परिमाणे महत्तमे।
प्रयोगमाचरिष्यंति यच्च कष्टकरं भवेत्॥ ३०॥
साधनैः साहसेनापि यास्यंतीमे सुपुष्टताम्।
व्यक्तयः केचनान्येभ्यो विपद्धेतुकरा मताः॥ ३१॥

टीका—मक्खी, मच्छर, खटमल, जुएँ, चूहे, साँप, बिच्छू आदि इस बात के लिए विवश करते हैं कि आत्मरक्षा का प्रबंध किया जाए और आक्रांताओं को हटाने के लिए साहस अपनाया जाए। यही बात सर्वत्र देखी जाती है। अनौचित्य को सहन करते रहने से तो अपना अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा, दूसरी हानि यह होगी कि आक्रमणकारी निर्द्वंद्व होकर अपनी दुष्टता को अधिक बड़े परिमाण में प्रयुक्त करेंगे, जो कि कष्टकर होगा। साहस और साधन बढ़ते रहने से वे अधिक परिपुष्ट होंगे और कुछ व्यक्ति अन्यों के लिए भारी विपत्ति का कारण बनेंगे॥ २७-३१॥

अनीत्याचरणं पापं यथा भीरुतया तथा।
तस्या अप्रतिरोधोऽपि पापमेवानुविद्यते॥ ३२॥
वस्तुतो भीरवस्ते हि दुष्टतां पोषयंत्यलम्।
वरं संघर्षशीलास्ते स्वयं ग्रह्णंतु हानिकाम्॥ ३३॥
परं साहसिका तेषां धर्मनिष्ठा तु या तया।
निर्दोषाणामसंख्यानां रक्षा भवति सर्वथा॥ ३४॥

टीका—अनीति करना जितना पाप है, उतना ही कायरतावश उसका प्रतिरोध न करना भी पाप है। वस्तुतः कायर ही दुष्टता का परिपोषण करते हैं। जूझने वाले स्वयं भले ही घाटे में रहें, पर उनकी इस साहसिक धर्मनिष्ठा से असंख्य निर्दोषों की रक्षा होती है॥ ३२-३४॥

आतंकवादिनां भंक्तुं साहसं प्रतिरोधनात्।
अतिरिक्तं न मार्गं तत्किमप्यस्ति महामुने॥ ३५॥
कः प्रभावो हिंस्रकेषु पशुष्वास्ते च दुर्जनाः।
धर्मोपदेशबोद्धारः किं भवंति विचार्यताम्॥ ३६॥
यद्येवं संभवेत्तर्हि रावणोऽङ्गदबोधितः।
दुर्योधनश्चकृष्णेन नम्रौ स्यातां न बोधितः॥ ३७॥
लंकाकांडस्य किं स्यातां महाभारतकस्य च।
आवश्यकता यतो देवाः प्रत्याक्रमणरक्षकाः॥ ३८॥
सहनेन सुगुप्त्या वा शांति-प्रार्थनयाऽपि वा।
असुरतायाः कुत्रास्ति आत्मरक्षा सुसंभवा॥ ३९॥

टीका—आतंकवादियों के हौसले तोड़ने के लिए प्रतिरोध के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। हिंस्र पशुओं पर अनुनय-विनय का क्या प्रभाव पड़ता है? दुरात्मा भी धर्मोपदेशक कहाँ सुनते हैं, यह विचार लो । यदि ऐसा होता तो अंगद के समझाने पर रावण और कृष्ण के समझाने पर दुर्योधन बदल न गया होता? तब लंकाकांड और महाभारत की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? देवता प्रत्याक्रमण के बाद ही आत्मरक्षा कर सके हैं? सहने, छिपने और शांति की रट लगाने से भी असुरता से आत्मरक्षा कहाँ होती है॥ ३५-३९॥

अनीत्यातंकहेतोर्या घटना दुःखदायिकाः।
दृश्यन्ते, दृश्यमानानां प्रतिरोद्धुं मनो भवेत्॥ ४०॥
अज्ञानं चाप्यभावश्चावाञ्छनीयौ मतौ तथा।
यद्यप्येतौ तु विद्येते परोक्षौ व्यक्तिगौ ध्रुवम्॥ ४१॥
अनयोर्हेतुना व्यक्तिः समाजश्चार्तयंत्रणाः ।
सहेते स भवेत्तस्मात्प्रतिरोधोऽप्यनीतिवत् ॥ ४२॥

न्यायिकः प्रतिबंधोऽस्ति विरोधेऽनीतिपद्धतेः ।
राजसत्तारुणद्ध्येनं, नैतौ रोद्धुं किमप्यहो ॥ ४३ ॥
अनयोरस्ति दायित्वं लोकसेविनरेषु हि।
सुधारकेषु शूरेषु तेऽग्रगा दूरयन्त्विमौ ॥ ४४ ॥
प्रत्यक्षं दृश्यते हानिर्या तु साक्रमणोदिता।
प्रत्यक्षवादिनोऽवांछनीयता तास्तु संजगुः ॥ ४५ ॥
दूरीकर्तुं च तान्येव निरतास्ते भवंति हि।
विरलाः केचनैवेदं जानंति पुरुषास्तु यत् ॥ ४६ ॥
अग्निवज्ज्वलका नैव घुणा वल्मीककास्तथा।
तेजसा ये च कुर्वंति लौहस्तभं धराशयम् ॥ ४७ ॥

टीका—अनीति के आतंक से जो दुर्घटनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ही ध्यान में आती हैं और प्रतिरोध की बात सोची जाती है, किंतु व्यक्तिगत एवं परोक्ष होते हुए भी अज्ञान तथा अभाव भी उतने ही अवांछनीय हैं। इनके कारण भी व्यक्ति तथा समाज को असह्य यंत्रणाएँ सहनी पड़ती हैं। इसलिए उनका प्रतिरोध अनीति की तरह ही होना चाहिए। अनीति के विरुद्ध कानूनी प्रतिबंध है और राजसत्ता उसकी रोक-थाम करती है, किंतु अज्ञान और अभाव के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष मोरचा नहीं है। इसे सँभालने का उत्तरदायित्व लोकसेवी सुधारक शूरवीरों के कंधों पर रहा है। उन्हें ही आगे बढ़कर इन अवांछनीयताओं को निरस्त करना होता है। आक्रमणों से होने वाली हानि प्रत्यक्ष दीखती है इसलिए प्रत्यक्षवादी उन्हीं को अवांछनीयता समझते और निरस्त करने में लगे रहते हैं। यह विरले ही जानते हैं कि आग की तरह प्रज्वलनशील न होने पर भी तेजाब, घुन, दीमक आदि भी सुदृढ़ शहतीर को धराशायी बना देते हैं ॥ ४०-४७ ॥

भ्रष्टता चिंतनस्याथ दुष्टताचरणस्य च।
मान्यतामोहरूपास्ता अंधाश्चापि परंपराः॥ ४८॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु ज्ञायतां हे मुनीश्वराः।
आक्रामिकात्वनीतिर्या सैव तास्तु भयंकराः॥ ४९॥
विनाशलीलाः कुर्वंति ये चाक्रांतार एव ते।
व्यक्तित्वादथ शक्यंते ग्रहीतुं च नियंत्रितुम्॥ ५०॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु स्वभावे मानवस्य हि।
प्रविष्टा नैव दृश्यंते नैव दुन्वंति चाप्यलम्॥ ५१॥
कठोरप्रतिरोधस्य सामुख्यं नैव कुर्वते।
संघर्षशीलताक्षेत्रमत्यन्तं व्यापकं मतम्॥ ५२॥

टीका—चिंतन की भ्रष्टता, आचरण की दुष्टता, मूढ़ मान्यताएँ, अंधपरंपराएँ जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ भी आक्रामक अनीति की तरह ही भयावह होती और विनाशलीला रचती हैं। आक्रमणकारी व्यक्ति होने से वे सहज ही पकड़े और दबाए भी जा सकते हैं। दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य के स्वभाव में घुसी होने के कारण दीखती भी नहीं, अखरती भी नहीं और कड़े प्रतिरोध का सामना करने से भी बची रहती हैं। संघर्षशीलता का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है॥ ४८-५२॥

एकं क्षेत्रं चिंतनस्य व्यक्तिगस्य मतं तथा।
स्वभावाचरणाभ्याससम्मानानां च विद्यते॥ ५३॥
पशुवृत्तेः संचिता ये कुसंस्कारास्त एषु हि।
क्षेत्रेषु दृढमूलाश्च स्थिताः सूक्ष्मेक्षिकाबलात्॥ ५४॥
अन्विष्यैताँस्तथाहानीरेतेषामनुमाय च।
निरस्तुं योजनायोगः सुसंस्कारो विपक्षकः॥ ५५॥

यस्तस्य स्थापनामाद्यं पदं प्रगतिशालिनी।
धर्मनिष्ठा तु या तस्या जगद्वश्यं जितात्मनः ॥ ५६ ॥

टीका—एक क्षेत्र अपने व्यक्तिगत चिंतन, स्वभाव, चरित्र एवं अभ्यास, सम्मान का है। पशुप्रवृत्तियों के संचित कुसंस्कार इन्हीं क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमाए बैठे रहते हैं। इनको बारीकी से ढूँढ़ना, उनकी हानियों का अनुमान लगाना, निरस्त करने की योजना बनाना, प्रतिद्वंदी सुसंस्कारिता की स्थापना करना प्रगतिशील धर्मनिष्ठा का प्रथम चरण है। जो अपने अंतः को जीतता है, वही बाह्य संसार को जीत सकता है ॥ ५३-५६ ॥

कुटुम्बं तनुरिवैतत् स्नेहस्तस्मै तु दीयताम्।
प्रगतेः पोषणस्यापि साधनादि च दीयताम् ॥ ५७ ॥
ध्यानमुत्तरदायित्वे दीयतां ते भवंतु हि।
सुयोग्याश्च समर्थाः सुसंस्काराःस्वावलंबिनः ॥ ५८ ॥
एतदर्थं कुटुंबस्य पारंपर्य क्रमे मुने।
अपेक्ष्यं भवतीहैतत्परिवर्तनमप्यलम् ॥ ५९ ॥
अस्मै नम्रस्य मंदस्य सौहार्दभरितस्य च।
विरोधशोधनस्यास्ति महत्त्वमिति मन्यताम् ॥ ६० ॥
मोहाद् ये न करिष्यंति नरा एतद्धि निश्चितम्।
स्नेहिनः परिवारस्य तेऽहितं साधयंत्यहो ॥ ६१ ॥

टीका—शरीर की तरह परिवार भी है। परिजनों को दुलार भी दिया जाए और पोषण प्रगति के साधन जुटाने में भी कमी न रखी जाए, किंतु इस उत्तरदायित्व को भी ध्यान में रखा जाए कि उनमें से प्रत्येक को सुयोग्य, समर्थ, स्वावलंबी एवं सुसंस्कारी भी बनाना है। हे मुने ! इसके लिए परिवार के परंपरागत ढर्रे में बहुत कुछ परिवर्तन

करना पड़ सकता है। इसके लिए धीमे, विनम्र एवं सौहार्द्रपूर्ण विरोध-सुधार की आवश्यकता पड़ेगी ही। जो मोहवश इससे बचेंगे वे स्नेह पात्र परिजनों का निश्चित ही अहित करेंगे॥ ५७-६१ ॥

सामाजिकेषु बाहुल्यं कुरीतीनां विधिष्वलम्।
भवत्येव तथैकस्य कालस्य रीतयो मुने॥ ६२ ॥
अयोग्या अपरे काले हानिदाश्चापि सम्मताः।
जीर्णतायां वरो मान्यो नरो रुग्णःश्लथो भवेत् ॥ ६३ ॥
रीतीनां विषयेऽप्येवं जीर्णोद्धार इव क्रमः।
संशोध्याया अथ त्याज्यास्त्याज्याः साहसपूर्वकम् ॥ ६४ ॥

टीका—सामाजिक प्रचलनों में कुरीतियों की भरमार रहती है। एक समय की प्रथाएँ दूसरे समय में अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी बनती रहती हैं। जीर्णता आने पर अच्छा- खासा मनुष्य भी अस्त-व्यस्त और रुग्ण रहने लगता है। प्रचलनों के संबंध में भी यही बात है। जिन्हें सुधारना, बदलना आवश्यक हो, उन्हें टूट-फूट की मरम्मत करने की तरह साहसपूर्वक बदल लेना चाहिए॥ ६२-६४ ॥

लोकप्रवाहकस्यास्ते जलमार्गं तु पंकिलम्।
प्रायोऽल्याः सज्जनाःसंति बहवोऽसंस्कृता जनाः ॥ ६५ ॥
गतिः साऽनुपयोग्या हि प्रायो रीतिषु धावति।
यथावत् सा नहि ग्राह्या, हंसः क्षीरं-जलात् पिबेत्॥ ६६ ।
स इवात्रापि कर्त्तव्या नीरक्षीर-विवेकिता ।
ततश्चोचितमास्ते यत्तद्ग्राह्यं मानवैः सदा॥ ६७ ॥

टीका—लोक-प्रवाह के नाले में सदा कूड़ा-करकट ही अधिक बहता है। सज्जनों की संख्या कम और अनगढ़ कुसंस्कारियों की अधिक रहती है। अस्तु, प्रथा-प्रचलनों में अनुपयुक्तता का बहुमत ही

आगे रहता और उछलता है। उसे ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन हंस जैसे पानी से दूध पी लेता है, उसकी नीर-क्षीर, विवेक-बुद्धि अपनाकर जो उचित उपयुक्त हो, मनुष्य को उसी को अपनाना चाहिए॥ ६५-६७॥

आकर्षणानि सर्वस्वं कालिकानि न मन्यताम्।
परिणामेषु कर्त्तव्यो विचारो दूरगामिषु ॥ ६८॥
दुःखदाः परिणामा ये लाभास्तात्कालिका मताः।
त्याज्यास्ते साहसेनैवं भविष्यन्मंगलं व्रजेत्॥ ६९॥

टीका—तात्कालिक आकर्षणों को ही सब कुछ नहीं मानना चाहिए। उसके दूरगामी परिणामों पर भी विचार करना चाहिए। जो परिणाम में दुःखद हो, ऐसे तुरंत के लाभ का साहसपूर्वक परित्याग ही कर देना चाहिए, इससे भविष्य मंगलमय बन जाएगा॥ ६८-६९॥

विवेकयुक्तो य आस्ते परामर्शः स मन्यताम्।
बालानां वा परेषां वा नायोग्य आत्मनामपि॥ ७०॥
तथ्यानां गरिमा श्लाघ्यो व्यक्त्यपेक्षतया मुने।
नवीनत्वं पुराणत्वं श्रेष्ठतायै न वाञ्छितम्॥ ७१॥
परं द्रष्टव्यमेतद्यत्तथ्यं सत्यं किमस्ति च।
अभ्यस्तं विधिमुत्स्रष्टुं मनो भवति शंङ्कितम्॥ ७२॥
परिवर्तनसंक्लेशैर्योद्धुं नोत्सहते जनः।
साहसाभावतोऽनीतेरग्र आत्मार्पणं ध्रुवम्॥ ७३॥

टीका—विवेकयुक्त परामर्श छोटे और परायों का भी मानें। अनुपयुक्त निर्देश बड़ों या अपनों का भी नहीं मानना चाहिए। व्यक्तियों की तुलना में तथ्यों की गरिमा अधिक है। बात नई है या पुरानी इस आधार पर उसे वरीयता न दी जाए, वरन यह देखा जाए कि तथ्य

एवं सत्य द्वारा समर्थन किसका होता है। अभ्यस्त ढर्रे को बदलने में मन कच्चा पड़ता है। उलट-पुलट के झंझट से सभी बचना चाहते हैं। इस साहसहीनता के कारण अनीति के सामने सिर झुकाना पड़ता है॥ ७०-७३॥

शूरा अपि च वीराश्च विख्याता ये जनास्तु ते।
दृश्यंते दुर्बलाः प्रायः क्षेत्रे सैद्धांतिके सदा॥ ७४॥
आत्मविश्वासिनो ये ते सदाऽऽदर्श समर्थने।
एकाकिनः स्थिताः संतु सहायाः संतु वा न वा॥ ७५॥
निन्दाया वा प्रशंसायाश्चिंता नैवात्रयुज्यते।
संघर्षो मल्लयुद्धो न चात्रासीषु निपातनम्॥ ७६॥
उपेक्षया विरोधेन तथैवासहयोगतः।
प्रारंभिकं सुपूर्णं स्यात् प्रयोजनमिति स्फुटम्॥ ७७॥
अनीतिमात्मा जानाति यन्नग्राह्यमदोऽमुना।
सहयोगः कथंचिन्न युज्यते वा समर्थनम्॥ ७८॥

टीका—शूरवीर समझे जाने वाले भी सिद्धांत-क्षेत्र में दुर्बल पड़ते हैं। आत्मविश्वासियों को आदर्शों के समर्थन में एकाकी अड़ा रहना चाहिए, साथी हों या न हों। उन्हें निंदा, प्रशंसा की चिंता ऐसे प्रसंगों पर नहीं करनी चाहिए। संघर्ष मल्लयुद्ध को नहीं करते और न उसमें सदा तीर-तलवार चलाने की ही आवश्यकता पड़ती है। उपेक्षा, असहयोग, विरोध करने से भी संघर्ष का आरंभिक प्रयोजन स्पष्ट पूरा होता है। जिसे आत्मा अनीति माने उसका समर्थन, सहयोग तो किसी भी मूल्य पर नहीं करना चाहिए॥ ७४-७८॥

शारीरं बलमुन्नेतुं संयमः साधनापि च।
कर्त्तव्येऽर्जितमेतच्च मनोबलमपि दृढम्॥ ७९॥

सत्यस्य निकषे ऽ सिद्धं प्रतिपादनमस्ति यत्।
अस्वीकार्यमिदं नूनं भवत्येव महामुने॥ ८०॥
आत्मनो बलमुन्नेतुं सफलास्ते भवंति हि।
अवांछनीयताभिर्नो संबद्धास्तु भवंति ये॥ ८१॥
ऐश्वर्यं तु समादाय चारित्र्यं चापि केवलम्।
सामर्थ्यमात्मना वाह्या नौकात्मीयेदृशैर्नरैः॥ ८२॥
विना सहगामिनो ऽप्येते विनैव च समर्थनम्।
नीतिमार्गेऽभयं यांति न गच्छन्त्यसमंजसम्॥ ८३॥

टीका—शरीरबल उभारने के लिए संयम-साधना करनी पड़ती है दृढ़ मनोबल अर्जित करने के लिए तथ्य और सत्य की कसौटी पर खोटे सिद्ध होने वाले प्रतिपादनों को अस्वीकार करना होता है। आत्मबल बढ़ा सकने में वे ही सफल होते हैं, जो अवांछनीयता से समझौता नहीं करते। ईमान और भगवान का समर्थन लेकर अपनी नाव आप खेते चले जाते हैं। साथी और समर्थक न होने पर भी नीति-पथ पर अकेले चलते रहने में भी उन्हें कोई भय, असमंजस नहीं लगता॥ ७९-८३॥

यांति साहसिका ह्यग्रे सफलाः सपराक्रमाः।
भवंति, प्रतिकूलाभिः स्थितिभिर्युद्धमाचरेत्॥ ८४॥
अनीत्या युद्ध्यमानैर्न हानिलाभौ तु गण्यताम्।
प्रखरताया विना कोऽपि क्षेत्रे कुत्रापि प्रोद्भवेत्॥ ८५॥
पराक्रमः श्लाघनीयः सार्थं साहसिकैर्मिलेत्।
सौजन्यं शोभते स्फीतं जायते साहसेन च॥ ८६॥

टीका—साहसी ही आगे बढ़ते हैं, पराक्रमी ही सफल होते हैं। प्रतिकूलताओं से जूझना ही पड़ता है, अनीति से टकराने में हानि-

लाभ का विचार नहीं करना चाहिए। प्रखरता के बिना किसी भी क्षेत्र में कोई बड़ी प्रगति कर सकने में सफल नहीं होता। पराक्रम ही सराहा जाता है। साहसी को साथी मिलते हैं। सज्जनता की शोभा साहसिकता से ही निखरती है॥ ८४-८६ ॥

दुर्वासास्तु महर्षिः स मान्यतानां समर्थनम्।
श्रुत्वा स्वानां प्रसन्नो ऽभूद्विवशोऽचिन्त्यत्तथा॥ ८७॥
क्रोधावेशाच्च पंगुः स्यान्नरो ऽ न्यांशिक्षयेत्किमु।
विकृतो जायतेऽसिद्धः किं परान् साधयेदहो॥ ८८॥
संशोधनविधौ भावं गृहीत्वा सर्वदैव तु।
चिकित्सकस्य रुग्णस्य स्निग्धं परुषमाचरेत्॥ ८९॥

टीका—महर्षि दुर्वासा अपनी मान्यताओं का समर्थन सुनकर प्रसन्न तो हुए, पर साथ ही यह भूल सुधारने के लिए भी विवश हुए कि क्रोध के आवेश में मनुष्य स्वयं अपंग हो जाता है और दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने को ही बिगाड़ बैठता है। स्वयं न सुधरा हुआ दूसरों को क्या सुधारेगा। सुधार-प्रक्रिया में रोगी और चिकित्सक का भाव रखकर स्नेहभरी कठोरता बरतने की आवश्यकता है॥ ८७-८९ ॥

समाप्तं पंचमं सत्रं तदारण्यकमथात्र ते।
श्रोतारो ब्रह्मविद्याया महत्त्वं मेनिरे भृशम्॥ ९०॥
प्रतिपादितं तया यच्च तदाध्यात्मिक-वैभवम्।
गरिमा पंचशीलस्य सावधानैरबुद्ध्यत ॥ ९१॥
आध्यात्मिकत्वमास्तिक्यं धार्मिकत्वमुदारहृत्।
भक्तिभावस्तुयस्तस्यानौचित्यस्यापि संमुखे॥ ९२॥
संघर्षशीलतां प्राप्तुं व्रतिनस्ते ऽभवन् समे।
संस्कृतेर्देवतानां तु निर्धारणगणस्य तु॥ ९३॥

आलोकं प्रतिवेश्माथ गत्वा लोकस्य मानसे।
संस्थापितुं प्रवज्यायां चर्चायां तेऽचलन्मुदा॥ १४॥
इत्थं पंचदिनस्येदं सत्रमारण्यकं वृहत्।
सोत्साहं च समुल्लासं साफल्यं समुपेयिवत्॥ १५॥

टीका—पाँचवें दिन का आरण्यक सत्र समाप्त हुआ। श्रवणकर्त्ताओं ने ब्रह्मविद्या का महत्त्व समझा तथा उसके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक पंचशीलों की गरिमा को ध्यानपूर्वक समझा और वे आध्यात्मिकता, आस्तिकता, धार्मिकता, उदार भक्तिभावना तथा अनौचित्य के विरोध में संघर्षशीलता अपनाने के लिए व्रतशील हुए, साथ ही देव संस्कृति के इन सभी निर्धारणों का आलोक घर-घर जाकर जन-जन के मन-मन में उतारने के लिए प्रव्रज्या पर प्रसन्नतापूर्वक निकल पड़े। इस प्रकार वह पंचदिवसीय आरण्यक सत्र बड़ी सफलतापूर्वक संपन्न हुआ और उत्साह भरे वातावरण में समाप्त हो गया॥ १०-१५॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री पिप्पलाद-दुर्वासा ऋषि-संवादे 'सत्साहस-संघर्ष' इति प्रकरणो नाम
॥ षष्ठोऽध्यायः॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः॥

युगांतरीय चेतना-लीलासंदोह प्रकरण

उमाशंकरसंवादामरां श्रुत्वा कथां तु यः।
निवृत्तो जन्ममृत्युभ्यां शुककायानिवासकः॥ १॥
वैशंपायन एकस्मिन् दिनेऽगान्मेरुपर्वते।
महालयैकशेषं तं मार्कण्डेयं सभाजितुम्॥ २॥
हर्षान्वितावुभौ नत्वाऽन्योन्यं तावृषिसत्तमौ।
चर्चायां परमार्थायां मार्कण्डेयं स पृष्टवान्॥ ३॥

टीका—शिव-पार्वती संवाद की अमर कथा सुनकर जरा-मृत्यु से निवृत्त हुए शुककाया में निवास करने वाले महर्षि वैशंपायन का एक बार सुमेरु पर्वत पर महाप्रलय में भी एकमात्र जीवित रहने वाले देवात्मा मार्कंडेय जी से समागम हुआ। दोनों ने हर्षाभिव्यक्ति की और नमन-वंदन के उपरांत परमार्थ चर्चा करने लगे, वैशंपायन ने मार्कंडेय जी से पूछा॥ १-३॥

वैशंपायन उवाच—

प्रज्ञायुगसमारंभे मंत्रणातिमहत्त्वगा।
विष्णुनारदयोर्मध्ये जाता मङ्गलदा नृणाम्॥ ४॥
योजना निश्चिता सैका नीतिर्निर्धारिताप्यभूत्।
इत्येव ज्ञातं तत्राग्रे किमभूद् विदितं न हि॥ ५॥
त्रिकालज्ञो भवाँस्तत्र संदर्भे विश्वमङ्गले।
अद्यावधि ह्यभूत्किं च भाव्यग्रे कृपया वद॥ ६॥

टीका—देव ! जब प्रज्ञायुग का शुभारंभ हो रहा था तब भगवान विष्णु देवर्षि नारद के बीच कुछ गुप्त मंत्रणा हुई थी, जो मनुष्यों के लिए मंगलमय थी। एक योजना बनी और एक नीति निर्धारित हुई थी, इतना ही विदित है। उस प्रसंग में आगे क्या हुआ, इसकी कोई जानकारी नहीं मिली। आप त्रिकालज्ञ हैं उस मंगलमय संदर्भ में बताने का अनुग्रह करें कि अब तक क्या हो चुका और आगे क्या होने वाला है ?॥ ४-६॥

देवात्मा स समाकर्ण्य मार्कण्डेयो महामुनिः।
जिज्ञासां, मुमुदेऽत्यर्थं दिव्यां दृष्टिं समाश्रयत्॥ ७॥
तया भूतं भविष्यच्च दृष्टवान् ध्यानपूर्वकम्।
ततो गंभीरमुद्रायां वाण्या संस्कृतयाऽगदत्॥ ८॥

मार्कंडेय उवाच—

काययाऽमर वैशम्पायन ! तं तु महामुने।
प्रसंगं रोचकं चापि मार्मिकं शृणु ध्यानतः ॥ ९ ॥

टीका—देवात्मा मार्कंडेय इस जिज्ञासा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि को केंद्रित किया और उससे भूत और भविष्य को ध्यानपूर्वक देखा। वर्तमान में क्या हो रहा है यह भी जाना। तदनुसार गंभीर मुद्रा में सुसंस्कृत वाणी से तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए बोले—हे काया से अमर महामुने वैशंपायन! वह प्रसंग बड़ा ही रोचक और मार्मिक है, तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ७-९ ॥

भगवतेऽर्पितकायः स तदिच्छा चिंतको मुनिः।
कर्त्ता तदनुसारं यो देवर्षिर्नारदः स्वकाम् ॥ १० ॥
भक्तिप्रसारिकां भूतकालिकीं कार्यपद्धतिम्।
परिवर्तितरूपां स व्यधात्कालज्ञ आप्तवाक् ॥ ११ ॥
युगधर्मानुरूपस्य ज्ञानस्यापि चः कर्मणः।
उत्कृष्टता प्रसारे च विस्तरे निरतोऽभवत् ॥ १२ ॥

टीका—भगवान के लिए समर्पित, उन्हीं की इच्छानुसार सोचने और करने वाले देवर्षि नारद ने अपनी भूतकाल की भक्ति प्रसार वाली कार्यपद्धति बदल दी, चूँकि वह कालज्ञ तथा आप्त हैं। युगधर्म के अनुरूप ज्ञान और कर्म की उत्कृष्टता का प्रसार करने लग गए ॥ १०-१२ ॥

महाप्राज्ञस्य संपन्ना पिप्पलादस्य पञ्चमे।
तत्त्वावधाने पूर्वं तु प्रसङ्गँस्तान् महामुने ॥ १३ ॥
आद्ये प्रज्ञापुराणस्य खंडे पूर्णं न्ययोजयत्।
प्रसङ्गस्यास्य वृत्तान्तं वरिष्ठैर्युगपूरुषैः ॥ १४ ॥

जनं जनं ज्ञापितुं स तत्परोऽभवदेव हि।
नूतना चेतना येन दीप्यते तेषु साऽनिशम्॥ १५॥
सृजनस्याथ रूपे हि कर्मचैतन्य एव तत्।
प्रज्ञाभियानं तस्यैव प्रयासस्याङ्गतांगतम्॥ १६॥
दावानल इवाभूत्स प्रचंडो व्यापकस्तथा।
झञ्झावातसमानश्च निरंतरमथाप्यभूत्॥ १७॥

टीका—हे मुने ! महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्त्वावधान में संपन्न हुए प्रज्ञा सत्र के पाँचों प्रसंगों को उनने प्रज्ञापुराण के प्रथम खंड के रूप में सुनियोजित किया और प्रसंग की जानकारी वरिष्ठ युगपुरुषों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने में जुट गए, जिससे उनमें नई चेतना का स्फुरण प्रारंभ हो गया। सृजन की कर्म चेतना के रूप में प्रज्ञा अभियान भी उसी प्रयास का अंग बना और दावानल की तरह प्रचंड तथा आँधी-तूफान की तरह व्यापक होता चला गया॥ १३-१७॥

जागृतात्मभिराधारे तस्मिन्नाकर्ण्य मंत्रणाम्।
युगस्य, जीवनं येषु श्लथं ते भवबंधनम्॥ १८॥
कुर्वंतो युगधर्मस्य निर्वाहे निरता मुदम्।
एको दीपो ह्यनेकाँस्तान् दीपानज्वालयत्क्षणात्॥ १९॥
ज्वालां गतः स्फुलिंगश्च बीजं वृक्षत्वमाश्रयत्।
प्रभाताह्वानमाकर्ण्य तमिस्रानिद्रिता जनाः॥ २०॥
आयच्छमानाश्चाङ्गानि स्थिता उत्थाय चोन्नताः।
प्रयाताः कालिकाह्वानं पूर्णं कर्तुं रताः स्मते॥ २१॥

टीका—जाग्रत आत्माओं ने उस आधार पर युगनिमंत्रण सुना और जिनमें जीवन था, वह भवबंधनों को शिथिल करते हुए उस

युगधर्म के निर्वाह में प्रसन्नता से जुट गए। एक से अनेकों दीप जले, चिनगारी ज्योति ज्वाला बनी। बीज ने वृक्ष का रूप धारण किया और प्रभात का आह्वान सुनकर तमिस्रा के कारण उनींदे पड़े लोग भी अँगड़ाई लेते उठे और तनकर खड़े हो गए चले और समय की माँग पूरी करने में जुट गए॥ १८-२१ ॥

कोटिशः कपिभल्लूक भूमिकां निरवाहयन्।
एकैकशश्चमत्कारान् कुर्वंतो युगपर्ययम्॥ २२ ॥
कर्तुं ते सफला जाताः वृत्तिः शुद्धा समन्ततः।
वैशम्पायन नैवैतत्सर्वं माया-विनिर्मितम्॥ २३ ॥

टीका—करोड़ों ने रीछ-वानरों की भूमिका निभाई और एक-से-एक बड़े चमत्कार उत्पन्न करते हुए युग बदलने की भूमिका निभा सकने में सफल हुए। चारों ओर वातावरण शुद्ध हो गया। हे वैशंपायन ! यह सब जादू की तरह नहीं हो गया॥ २२-२३ ॥

प्रयासेऽस्मिन्नसंख्येय -देवमानवपौरुषम् ।
प्रचंडमभिनंद्यश्च त्यागः संतोषकारकः॥ २४॥
बलिदानमभूद् यच्च सुकृतं नरजन्मनः।
अनीतेः प्रतिरोधे च संघर्षः सहसोदितः॥ २५ ॥
अज्ञानोन्मूलनं जातं दूरी कर्तुमभावकान्।
अनेकानेकसृज्यानां प्रवृत्तीनां नियोजनम्॥ २६ ॥
कार्यान्वयनमप्यत्र प्राचलत्तन्निरंतरम्।
युगचेतनाग्रदूतास्ते प्रज्ञापुत्रस्वरूपिणः ॥ २७॥

टीका—इस प्रयास में असंख्यों देवमानवों को प्रचंड पुरुषार्थ और अभिनंदनीय, तुष्टिप्रद, त्याग, बलिदान करना पड़ा, जो मानव जीवन का उत्तम पुण्य है। अनीति के विरुद्ध संघर्ष उभरा, अज्ञान का

उन्मूलन किया गया और अभावों को दूर करने के लिए अनेकानेक सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों का नियोजन तथा कार्यान्वयन निरंतर चल पड़ा। युगचेतना के अग्रदूत प्रज्ञापुत्रों के रूप में प्रकट हुए॥ २४-२७॥

व्रतिनो नवनिर्माण स्वनिर्माणस्य चाभवन्।
युगदेवाङ्घ्रिषु श्रद्धाञ्जलीः सङ्कल्पजा ददुः॥ २८॥
पञ्चमुख्यग्निवेद्यास्ते पुरोऽदुर्देवदक्षिणाः।
आत्मनिर्मितयेऽगृह्णन् साधनासेवयोस्तथा॥ २९॥
स्वाध्यायस्य व्रतं सर्वे संयमस्यापि तद्दृढम्।
परिवारं स्वं स्वमेवाथ पञ्चशील प्रवृत्तिभिः॥ ३०॥
अभ्यस्तं कर्तुमेवैते निश्चयं मुदिता व्यधुः।
इत्थमात्मविनिर्माणः परिवारविनिर्मितिः॥ ३१॥
शृंखलाबद्धतो जाता व्यरमन्नो क्षणं क्वचित्।
तेन संस्कारयुक्ता च देवमानवनिर्मितिः॥ ३२॥

टीका—उन (प्रज्ञापुत्रों) ने आत्मनिर्माण और नवनिर्माण के लिए व्रत ग्रहण किए और संकल्पों की श्रद्धांजलियाँ युगदेवता के चरणों पर अर्पित कीं। पंचमुखी अग्निवेदिका के सम्मुख उनने देवदक्षिणा समर्पित की और आत्मनिर्माण के लिए साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के दृढ़ व्रत लिए और अपने-अपने परिवारों को पंचशील की सत्प्रवृत्तियों से अभ्यस्त करने का प्रसन्नता से निश्चय किया। इस प्रकार आत्मनिर्माण और परिवारनिर्माण की शृंखला चल पड़ी जो क्षण भर भी नहीं रुकी और उससे देवमानवों का निर्माण चल पड़ा॥ २८-३२॥

जाता, प्रखरता तेषां सत्प्रवृत्युदयं व्यधात्।
दुष्प्रवृत्तिक्रमो भग्नस्तासां शेषत्व हेतवे॥ ३३॥

कश्चिन्नावसरो भूय आगमिष्यति निश्चितम्।
अगृह्णन् युगस्रष्टार औदार्यमंशमर्पितुम्॥ ३४॥
समयं दातुमेवापि संचिता शक्तिरद्भुता।
दुर्गावतरणं या तु सामर्थ्यमद्भुतं ददौ॥ ३५॥
इमां शक्तिं समाश्रित्य दूरीभूतं महत्तमः।
देवतत्वान्यलं प्रापुर्बलमासुरमत्यगात् ॥ ३६॥

टीका—उन (प्रज्ञापुत्रों) की प्रखरता से सत्प्रवृतियाँ बढ़ती चली गईं और अब उन दुष्प्रवृत्तियों के शेष रहने का कोई अवसर नहीं आएगा। युग-सृजेताओं ने समयदान, अंशदान की उदारता अपनाई और उस अद्भुत सामर्थ्य को जन्म दिया, इस शक्ति के सहारे अंधकार मिटा। देवतत्त्वों को बल मिला और असुरता निरस्त होती चली गई॥ ३३-३६॥

सुप्रभातमिदं प्रज्ञा युगस्याभून्महामुने।
जागृतात्मांशदानं तदृषिरक्तमिवाऽभवत् ॥ ३७॥
समर्थं संस्कृतेर्नव्यसीतायाः जन्मनः कृते।
सत्प्रवृत्तीरसंख्येया इदं सामर्थ्यमासृजत् ॥ ३८॥
पोषयामास ताः सर्वा वर्षा इव सुमंगला।
प्रक्रियैषात्मनिर्माण-युगनिर्माण-संयुता ॥ ३९॥
विख्यातिमगमद्देवदक्षिणा-नामतो भुवि ।
प्रस्तुतं वह्निसाक्षित्वं श्रद्धाञ्जलय एतकाः॥ ४०॥
दातृभ्यः सौभगस्यासन् श्रेयसां कारणानि च।
गरिम्णो मानवस्याभूत् पुनर्जीवनकस्य तु॥ ४१॥
निमित्तं कारणं धन्यं पीयूष-परिपोषणम्।
प्रक्रियैषा दधौ रूपं युगशक्तेः सुशोभना॥ ४२॥

परिवर्तनकस्याभून्निमित्तं कारणं त्वियम्।
वर्तमाने चलत्येतद् भविष्यदुज्ज्वलं मतम्॥ ४३॥

टीका—महामुने ! यह प्रज्ञायुग का सुप्रभात सिद्ध हुआ। जाग्रत आत्माओं का अंशदान ऋषि-रक्त की तरह संस्कृति की अभिनव सीता को जन्म देने में समर्थ हुआ। इस सामर्थ्य ने अगणित सत्प्रवृत्तियों को सृजा और उन्हें परिपोषण प्रदान किया जो मांगलिक वर्षा के समान सिद्ध हुई। अग्नि की साक्षी प्रस्तुत की गई। ये श्रद्धांजलियाँ दाताओं के लिए श्रेय सौभाग्य की कारण बनीं और मानवी गरिमा के पुनर्जीवन का निमित्त कारण बनीं जो धन्य एवं अमृत पोषण सिद्ध हुआ। इस प्रक्रिया ने युगशक्ति का रूप धारण किया और परिवर्तन का निमित्त कारण बनीं। वर्तमान में यही सब चल रहा है। उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित है॥ ३७-४३॥

यत्रार्जुन इवास्त्येव कर्मवीरस्तथा च सः।
सूत्रसंचालकोऽप्यत्र भगवानिव भासते॥ ४४॥
तत्रासाफल्य-हेतुर्न कश्चिदस्ति मनागपि।
प्रसंङ्गेऽस्मिन् महालाभस्तैर्नरैः प्राप्यते भृशम्॥ ४५॥
भगवतः सहगा ये तु भूत्वा तेषां सुमंगले।
युगपर्ययविधौ युक्ता भावुकास्तु निरंतरम्॥ ४६॥

टीका—जहाँ अर्जुन जैसे कर्मवीर और भगवान जैसे सूत्र-संचालक हों वहाँ असफलता का कोई कारण नहीं। इस प्रसंग में सबसे अधिक लाभ उन्हें मिलना है, जो भगवान के सहचर बनकर उनकी मंगलमय युग परिवर्तन-प्रक्रिया कार्यान्वित करने में भावनापूर्वक निरंतर जुटे हुए हैं॥ ४४-४६

दिनं नहि सुदूरं तत् यत्र काल-विपर्ययः।
चिन्तनं स्याच्चरित्रं च नराणां परिवर्तितम् ॥ ४७ ॥
उत्कृष्टता सुसंस्कारैः संस्कृतास्ते नरा ध्रुवम्।
विमुखाश्च निकृष्टत्वात् स्वार्थसंकीर्णता ग्लपेत् ॥ ४८ ॥
वर्धिष्यंतेऽञ्जसावश्यं सहसा सत्प्रवृत्तयः।
उदारसहयोगेन हर्षोल्लासोदयो भवेत् ॥ ४९ ॥
आगामि दिवसेष्वेवं नापराधा न विग्रहाः।
द्रक्ष्यंते, सीमितेष्वेव साधनेषु प्रसन्नताः ॥ ५० ॥
तेष्वसीमसुखस्याथ शांतेश्चापि महामुने ।
उपलब्धेर्भविष्यंति दृश्यान्यक्षिचराण्यलम् ॥ ५१ ॥
विषमताविनाशः स्यादेकतोत्पत्तिरेव च ।
समस्ता मानवाः स्थास्यंत्येकराष्ट्रव्रता इव ॥ ५२ ॥
एकां भाषां वदिष्यंति विश्वधर्मं रथा च ते।
संस्कृतिं मानवीयां च स्वीकरिष्यंति प्रेमतः ॥ ५३ ॥
द्रक्ष्यंते मानवाः देवरूपिणो जगतीतले।
कोणे-कोणे सुखस्याथ शांतेः स्वर्ग्या वृतिर्भवेत् ॥ ५४ ॥
प्रज्ञायुगो भूतकालाच्छ्रेष्ठः सत्ययुगादपि।
ज्ञास्यते श्रेय आधास्यन् व्रजिष्यति वरिष्ठताम् ॥ ५५ ॥

टीका—वह दिन दूर नहीं जब समय बदला होगा। मनुष्यों के चिंतन-चरित्र में भारी हेर-फेर उत्पन्न होगा। वे निकृष्टता से विमुख होकर उत्कृष्टता के ढाँचे में ढलेंगे। संकीर्ण स्वार्थपरता घटेगी तो सत्प्रवृत्तियाँ अनायास ही बढ़ती चली जाएँगी। उदार सहयोग बढ़ने पर सर्वत्र हर्ष उल्लास छाता ही है। अगले दिनों न कहीं अपराध दृष्टिगोचर होंगे न विग्रह, सीमित साधनों में प्रसन्नता होगी। तथा उन्हीं

में असीम सुख-शांति उपलब्ध करने के स्वर्गीय दृश्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगेंगे। विषमता मिटेगी और एकता उत्पन्न होगी। समस्त मनुष्य एक राष्ट्र बनाकर रहेंगे, एक भाषा बोलेंगे। विश्व धर्म और मानवी संस्कृति को सभी प्रेमपूर्वक स्वीकार करेंगे। मनुष्य देवता जैसे दीखने लगेंगे और धरती के कोने-कोने में सुख-शांति का स्वर्गीय वातावरण बन जाएगा। प्रज्ञायुग को भूतकाल के सतयुग से भी अधिक श्रेष्ठ समझा जाएगा और इसे ही वरिष्ठता का श्रेय प्राप्त होगा॥ ४७-५५ ॥

वैशम्पायन संवादः विष्णुनारदयोस्तु यः।
ततः प्रज्ञापुराणस्य विस्तरस्य तथैव च ॥५६॥
प्रज्ञाभियानकस्यापि विश्वगो विस्तरस्तु यः।
परिचयस्तस्य संक्षिप्तो बोधितोऽयं मयाऽधुना॥५७॥
दिव्यदृष्ट्या स्वरूपं च भविष्यत्कालिकं पुनः।
स्पष्टमेव महाभाग करामलकवद् ध्रुवम् ॥५८॥
प्रज्ञावतारलीलेयं प्रखरा प्रोज्ज्वला मता।
निरस्ताः पूर्णतो यत्र भयानकविभीषिकाः॥५९॥
स्वर्गावतरणं भूमौ यदास्ते परिवर्तनम्।
तुलनस्यैतत्तु द्रक्ष्यंति ये ते स्युरथ विस्मिताः॥६०॥
प्रज्ञायुगः सर्वश्रेष्ठो भविष्यति युगो भुवि।
स्थापका भुवि ये तस्य श्लाघ्याः प्रज्ञासुतास्तु ते॥६१॥
तेषां भगीरथायास-भूमिकायास्तु वर्णनम्।
उत्साहवर्धकं वंश्याः करिष्यंति युगे युगे॥६२॥
श्रोतारो युगस्रष्टृणां श्लाघयंतस्तु भाग्यकम्।
हंत तत्राभविष्यामाभवाम भूरिभाग्यकाः ॥६३॥

टीका—हे वैशंपायन विष्णु ! नारद संवाद से लेकर प्रज्ञापुराण के विस्तार और प्रज्ञा अभियान के विश्वव्यापी विस्तार का संक्षेप परिचय मैंने कराया है। हे महाभाग! दिव्यदृष्टि से भविष्य का स्वरूप भी हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट है। पिछले सभी अवतारों की तुलना में प्रज्ञावतार की लीला कहीं अधिक प्रखर प्रोज्ज्वल मानी जाएगी। ऐसी, जिसमें भयानक विभीषिकाओं को निरस्त कर दिया गया है। उस स्थान पर स्वर्ग के धरती पर उतारने जैसे परिवर्तन पर जो भी तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे, वे आश्चर्यचकित हुए बिना न रहेंगे। प्रज्ञायुग सर्वश्रेष्ठ युग होगा। उसे धरती पर उतारने वाले प्रज्ञापुत्र श्लाघ्य हैं। उनकी भगीरथ जैसी भूमिका का उत्साहवर्द्धक वर्णन अगली पीढ़ियों के लोग युगों-युगों तक करते रहेंगे। सुनने वाले इन युग-सृजेताओं के भाग्य की सराहना करते हुए सोचेंगे, काश ! हम उन दिनों रहे और कार्यरत बने होते तो कितने सौभाग्यवान कहलाते॥ ५६-६३ ॥

मार्कंडेय उवाच—

तावती तात ! श्रोतव्या कथा यस्यां तु चिंतनम्।
मननं संभवेच्चापि समाप्तव्यः प्रसङ्गकः ॥ ६४॥
संध्यावंदनहेतोश्च गच्छामो वयमद्य तु।
भविष्यत्यवसरश्चेज्ज्ञानचर्चा भविष्यति ॥ ६५॥

टीका—मार्कंडेय जी ने वैशंपायन से कहा—तात ! कथा उतनी ही सुननी चाहिए, जिस पर चिंतन-मनन हो सके। आज का प्रसंग समाप्त किया जाए। हम लोग संध्या वंदन के लिए चलें। अवसर हुआ तो भविष्य में फिर ज्ञान चर्चा करेंगे॥ ६४-६५ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शन युग-साधनाप्रकटीकरणयोः, श्री मार्कंडेय-वैशंपायन ऋषि-संवादे 'युगांतरीय चेतना लीलासंदोह' इति प्रकरणो नाम

॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ महाकालाष्टकम् ॥

असम्भवं सम्भव-कर्त्तुमुद्यतं, प्रचण्ड-झंझावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

यदा धरायामशान्तिः प्रवृद्धा, तदा च तस्यां शान्तिं प्रवर्धितुम्।
विनिर्मितं शान्तिकुञ्जाख्यतीर्थकं, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

अनाद्यनन्तं परमं महीयसं, विभोः स्वरूपं परिचाययन्मुहुः।
युगानुरूपं च पथं व्यदर्शयत्, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ३ ॥

उपेक्षिता यज्ञमहादिकाः क्रियाः, विलुप्तप्रायं खलु सान्ध्यमाह्निकम्।
समुद्धृतं येन जगद्धिताय वै, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

तिरस्कृतं विस्मृतमप्युपेक्षितं, आरोग्यवाहं यजनं प्रचारितुम्।
कलौ कृतं यो रचितुं समुद्यतं, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ५ ॥

तपः कृतं येन जगद्धिताय वै, विभीषिकायाश्च जगन्नु रक्षितुम्।
समुज्ज्वला यस्य भविष्य-घोषणा, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ६ ॥

मृदुह्युदारं हृदयं नु यस्य यत्, तथैव तीक्ष्णं गहनं च चिन्तनम्।
ऋषेश्चरित्रं परमं पवित्रकं, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ७ ॥

जनेषु देवत्ववृत्तिं प्रवर्धितुं, नमो धरायाश्च विधातुमक्षयम्।
युगस्य निर्माणकृता च योजना, परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥ ८ ॥

यः पठेच्चिन्तयेच्चापि, महाकाल-स्वरूपकम्।
लभेत परमां प्रीतिं, महाकालकृपादृशा ॥ ९ ॥